

ॐ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

० मागवत-पत्रिका ०

सौख्यादेव यदि रति आ पूर्व लिंगं ब्रह्मम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता यथात्मा सुप्रसीदति ॥

४५
४६
४७
४८
४९
५०

सब धर्मों का अष्टु रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुक्य विज्ञशून्य अति मंगलदायक ॥

५१
५२
५३
५४
५५
५६

वर्ष २

गौराच्छ ४७०, मास—श्रीधर २५, वार—कारणोदशायी
वृहस्पतिवार, ३१ आवण, समवत् २०१३, १६ अगस्त १९५६

संख्या ३

श्रीश्रीवलराम-स्तोत्रम्

[श्रीश्री जगचाथदेवकी स्तुति करके पितामह ब्रह्मा धरणीधर शेष श्रीश्रीवलभद्रजीका दर्शन करनेके लिए गए और अतिशय भक्तिपूर्ण प्रणाम कर उनका स्तुत करने लगे ।]

पादांभोज-प्रपञ्चनां नमः पापीघदारिणे ।

अनन्त-वक्त्-नयन-श्रोत्र-पादाक्षि-वाहवे ॥१॥

नमोऽनादि-महामूल-तमस्तोमैकभानवे ।

त्रयीभव त्रिधारोष-नाशाय द्यवतारिणे ॥२॥

हे देवेश ! जो आपके चरणारविन्दोंकी शरण लेते हैं, उनकी अखिल पाप-राशिको आप हर लेते हैं । आपके सुख, नेत्र, कान, चरण और भुजाएं अनन्त हैं । आपको नमस्कार है ॥१॥

प्रभो ! आप अनादि और विश्वके महामूल हैं तथा अज्ञाना-न्धकार-राशिका विनाश करनेके लिए सूर्य-स्वरूप हैं, आपकी कृपासे आध्यात्मिकादि तीनों प्रकारके दोष विनष्ट हो जाते हैं । त्रिविध अवतार धारण करने वाले आपको पुनः नमस्कार है ॥२॥

फणा-मणिकणाकार-चिति-मण्डलधारिणे ।
नमः कालाग्निरुद्राय महारुद्राय ते नमः ॥३॥

भोगतत्परणाच्छ्रुत्र-मध्यसुसाय ते नमः ।
महार्थव-जले बृद्धे पृकीभूते जगन्नये ॥४॥

त्वमेव शेषे भगवन् सहखफणमणिडत ।
कणामणिगणन्याज - सम्भृताखिलभौतिक ॥५॥

त्वमेव नाथ सर्वेषां स्तषा पालयिता प्रभो ।
अत्ता धारयिता नित्यं सदायास्त्वद्विभित्तिकाः ॥६॥

एष नारायणो यो वै वेदान्तेषुपर्यायते ।
त्वत्तो न भिन्नो भगवन् कारणाद्देवभागसि ॥७॥

शश्या त्वं शयिता द्वैष छायच्छु छावको भवान् ।
यो वै कृष्णः स वै रामो यो रामः कृष्ण एव सः ।
युवयोरन्तरं नास्ति प्रसीद त्वं जगन्मय ॥८॥

प्रभो ! आप अपने फणोंकी एक मणिके छुट्र कणोंके समान इस विशाल भू-मण्डलको अपने मस्तकपर जैसे खेल ही में धारण किये हुए हैं; कालाग्निरुद्र और महारुद्र-स्वरूप आपको बार-बार नमस्कार है ॥३॥

देव ! प्रलयकालमें महार्णवका जल बढ़नेसे जिस समय तीनों जगत सावित होकर एकाकार हो जाता है, आप अपने कुण्डलीकृत प्रकाण्ड शरीरको शश्या और फन-मण्डलको छत्र बनाकर सुखपूर्वक शयन करते हैं, उस अनंत महीमासे युक्त आपको नमस्कार है ॥४॥

भगवन् ! आपके मस्तककी (फणाओंकी) मणियाँ इस प्रकार सुशोभित होती हैं, मानों आपने विश्व-ब्रह्माएङ्गकी अखिल सम्पत्तिको अपने मस्तकपर धारण कर रखा हो । ऐसे सहस्र फणोंसे विभूषित होकर आप प्रलय-कालीन समुद्रके जलमें शयन करते हैं ॥५॥

नाथ ! आप सबके स्त्री, पालक और संहारक हैं । केवल आप ही इस भूमण्डलको धारण करने वाले हैं । प्रभो ! आप ही 'मैं और मेरा' सबके मूल कारण हैं ॥६॥

भगवन् ! सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्रमें जिनकी महिमा गान की गयी है, वे भगवान् नारायण आपसे भिन्न नहीं हैं । केवल किसी अनिर्वचनीय कारणसे वे आप से पृथक् रूपमें विराजमान हैं ॥७॥

आप शश्या है, नारायण सोने वाले हैं, आप आच्छादक हैं, नारायण आच्छादनीय हैं । वास्तवमें जो कृष्ण हैं, वे बलराम हैं और जो बलराम हैं, वे ही कृष्ण हैं । आप दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है । जगन्मय ! आप प्रसन्न होइये ॥८॥

— उत्कलस्त्रांगके २७वें अध्याय से

आलवारों के जीवनों

(४) भक्ताङ्ग्रिरेणु (तोण्डारडिप्पडि)

परिचय

भक्ताङ्ग्रिरेणुका पूर्व नाम विप्रनारायण था। इनका जन्म चोल-राज्यके अन्तर्गत मण्डनगुड़ी नामके एक गाँवमें शोलीय ब्राह्मण-कुलमें २८८ कल्यव्दके मार्गशीर्षके महीनेमें हुआ था। ये स्वभावसिद्ध योगी थे। विषय-भोगकी कामनाएँ उनके चित्तको छू तक न गयी थीं। इन्होंने विविवत संस्कार प्राप्त कर वेद-वेदांगोंका भजिभाँति अध्ययन किया तथा उनमें विशेष पारदर्शिता लाभ की थी। श्रीरामानुज सम्प्रदायमें ये भगवान्की वनमालाके अवतार माने जाते हैं।

थोड़ी आयुमें ही इन पर भगवद्भक्तिका गहरा रङ्ग चढ़ गया। ये एक चार श्रीरङ्गज्ञेत्रमें उपस्थित हुए। वहाँ श्रीरङ्गजीका दर्शन कर इतने आकृष्ट हुए कि उन्होंने मन-ही-मन अपनेको श्रीरङ्गनाथजीके चरणोंमें अपेण कर दिया और उनकी सेवामें ही जीवनकी शैष चड़ियाँ चितानेका संकल्प कर लिया। उन्होंने निचुलापुरी नामक राजधानीके निकटवर्ती स्थानमें, जो श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरसे सटा हुआ था, एक मनोरम वर्गीचा लगाया। उसमें तुलसी-कानन और नाना प्रकारके सुन्दर फूल लगाए और उसके तुलसी तथा फूलोंसे सुन्दर-सुन्दर हार गूँथकर श्रीरङ्गनाथजीको अपेण करते। वे प्रतिदिन आठ प्रकारकी मालाएँ अपेण करते जो क्रमशः अहिंसा, इन्द्रियनिप्रह, सब प्राणियोंपर दया, ज्ञान, ध्यान, तपस्या, ज्ञान और सत्यरूप आठ प्रकारकी उनकी मानस पूष्पाच्चनका प्रतीक होती थीं। इस प्रकार इनकी जहाँ दैनिक सेवा सुचारूरूपसे चलने लगी।

कठिन परीक्षा

उस समय तिरुकरमवानुर नगरमें एक बड़ी रूपवती वाराहाना रहती थी जिसके सौन्दर्य पर स्वयं चोलराज भी मुम्ख थे। उसका नाम देवदेवी था। वह प्रायः चोलराजके महलमें आया-जाया करती। रास्तेमें ही विप्रनारायणका पुष्पकानन पड़ता था। एक दिन जय वह अपनी वहिनके साथ राज-प्रासादसे लौट रही थी, विप्रनारायणके वर्गीचेका प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर दोनोंकी दोनों चमकृत हो गयी और वही एक वृक्षके नीचे बैठकर विश्राम करने लगी। सहस्र देवदेवीकी हापि विप्रनारायण पर पड़ी। उस समय वे तुलसीके पौधोंको सीचते जाते थे और साथ-ही-साथ मधुर स्वरसे श्रेम-पूर्वक भगवन्नामका कीर्तन भी करते जाते थे। वे तुलसी-सेवामें इतने मस्त थे कि उन्होंने उन दोनों रमणियोंकी तरफ आँख उठाकर कर भी नहीं देखा। इस उपेक्षासे देवदेवीके मानको बड़ी ठेस पहुँची। वह तिलमिला उठी और अपनी वहिनसे बोली—‘यह आदमी पागल तो नहीं है? मेरे जिस सौन्दर्य पर बड़े-बड़े राजा लोग तक मुम्ख हैं, यह युवक तपस्वी उसकी तरफ एकवार आँख उठाकर भी नहीं देखता।’ देवदेवीकी वहिनने कहा—‘जिनका चित्त-चंचरीक अखिल सौन्दर्यके आकर भगवान्की रूप-माधुरीका पानकर चुका है, विषय-भोगोंके प्रति उनकी स्वभाविक विरक्ति होती है—नारीका घृणित रूप उन्हें आकर्षित नहीं कर सकता। देवदेवीने वडे गर्वसे कहा—रूपकी उपेक्षा! मैं इस तपस्वीको देख लूँगी।’ उसकी वहिनने कहा—‘मैं भी देखूँगी कि तुम इस तपस्वीको कैसे अपने रूप-पाशमें बाँधती हो। वहिनजी! तुम्हारी यह

आशा दुराशामात्र है। यदि यह ब्राह्मण-कुमार तुम्हारे रूप-पाशमें बैंध गया तो मैं छः महीने तक तुम्हारी दासी होकर रहूँगी।' देवदेवीने भी अभिमान भरे कहा—'यदि इस युवको अपने रूपकी मदिरा पिलाकर पागल न कर दूँ तो मैं भी छः महीने तक तुम्हारी दासी होकर रहूँगी। इस प्राहार दोनों वहिनोंमें बाजी लग गयी।

देवदेवीने उसी समय अपने सारे अलंकार और वेशकीमती कपड़े उतारकर वहिनेके हाथ घर भेज दिया और स्वयं एक संन्यासिनीका वेष बनाकर धीरे-धीरे विप्रनारायणके सामने जा खड़ी हुई। विप्रनारायणने एक युवती संन्यासिनीको सामने हाथजोड़े खड़ी देखकर चकित होकर पूछा—'तुम कौन हो और यहाँ क्यों आयी हो। तुम्हारा इस प्रकार अकेला घूमना उचित नहीं, तुम शीघ्र यहाँसे चली जाओ।'

संन्यासिनीने बड़े ही करण शब्दोंमें कहा—'महाराज ! मैं दुःखकी मारी एक अभागिनी हूँ। आप मेरे दुःखकी कहानी सुनकर जैसा उचित समझें, करें। मेरी माता मुझे अपनी इज्जत बेचकर धन उपार्जन करनेके लिए विवश करती है, किन्तु मैं किसी भी मूल्यमें इस प्रकार एक कलंकित जीवन विताना नहीं चाहती। लाचार होकर मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। मम निराश्रयाको दयाकी भीख देकर रक्षा करें। मैं आपकी मौपड़ीसे दूर किसी बृक्षके नीचे पड़ी रहूँगी, बगीचेके पौधोंको मिचूँगी, उनकी रखबाली करूँगी और आपका जूठन खाकर ही बड़े सुखसे जीवन विता सकूँगी।'—ऐसा कहकर वह फक्क-फक्क कर रोने लगी।

सरल हृदय भक्तने उस वाराङ्गनाके कपट भरे बच्चों पर विश्वास कर लिया और दयार्द्र होकर उसे बगीचेमें रहनेकी अनुमति दे दी।

कई दिन बीत गये। जाड़ेका दिन है। रातका समय है। मूसलाधार वर्षा हो रही है। बेचारी संन्यासिनी उसी पेड़के नीचे ठिठुर रही है। उसकी साढ़ी पानीसे तर हो गई है। बड़ी दया आई

विप्रनारायणको उस बेचारी संन्यासिनीकी उस दशा पर। उन्होंने उसे अपनी मौपड़ीमें बुला लिया। विजलीकी चमकमें भक्तने भीगी हुई साढ़ीमें सिमटी हुई देवदेवीका अनुपम सौन्दर्य देखा। वे क्रमशः अपना माधुवत्त खोने लगे और अन्तमें छङ्गवेधिनी संन्यासिनीके माया-जालमें बैंध गये। देवदेवीकी विजय हुई, उसकी मनोकामना पूर्ण हुई।

कुसङ्गका असर होता ही है, धीरे-धीरे विप्रनारायणहा चित्त भगवान् रङ्गनाथजीकी सेवासे हट कर देवदेवीकी ओर जा चिपका। आज वे देवदेवीके कृतदास हैं। देवदेवीने भी मौका देखकर अपना स्वरूप प्रकट किया और वहाँ अर्थामाव देखकर घर लौट आई। मरता क्या न करता। विप्रनारायण भी दुर्बलतावशतः खिंचे हुए उसके घर आने लगे। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा, ज्ञान-वैराग्य और मव कुछ उस वेश्याके चरणोंमें लुटा दिया। रूपकी मारने भक्तको दर-दरका भिखारी बना दिया। विप्रनारायणके जब पास देवदेवीको प्रसन्न करनेके लिये कुछ न रहा तब उसने, उन्हें दुत्कार कर अपने घरसे निकाल दिया।

श्रीरङ्गनाथजीकी कृपा

रातका समय है। विप्रनारायण देवदेवीके देहली पर बैठे दरवाजा खुलनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। लाख गिरिगिराने पर भी दरवाजा न खुला और न खुला। वे मन मारकर बहीं पास ही बैठे हैं, इसी समय श्रीरङ्गनाथ लक्ष्मीजीको साथ लेकर उसी मार्गसे निकले लक्ष्मीजीने विप्रनारायणको वहाँ दुःखी होकर बैठे देखा। उन्हें यह समझते देर न लगी कि यह उन्हींका पुराना भूत्य है, किन्तु समयके फेरसे आज उसकी यह दुर्दशा है। उन्होंने श्रीरङ्गनाथजीमें उनके पुराने सेवकका उद्धार करनेके लिये अनुरोध किया। रङ्गनाथजीने हँसकर उनकी प्रार्थना स्वीकार करली।

देवदेवीका दरवाजा खूब जोरोंसे कोई खटखटा रहा है। देवदेवीने भीतरसे ही पूछा—'कौन है ?' 'मैं विप्रनारायणका नौकर हूँ, उन्होंने आपके लिये

यह सोनेका थाल भेजा है। वे स्वयं यद्दी निकट ही आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं—किवाहोंके खटखटाने वाले अज्ञात व्यक्तिने उत्तर दिया। देवदेवीको आनन्द की सीमा न रही। उसने किवाड़ खोल कर सोनेके थालको अन्दर रख दिया और विप्रनारायणको बड़े आग्रहसे अपने घरके अन्दर लिवा ले गई। इवर नौकर गायब हो गया।

दूसरे दिन प्रातः हाल श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें वही सनसनी फैल गई—‘श्रीरङ्गनाथजीका सोनेका थाल गायब हो गया है।’ पुजारियोंने मन्दिरके अध्यक्षको इसकी सूचना दे दी। धीरे-धीरे यह खबर राजाके कानों तक पहुँची। सभी परेशान थे। वही छान-चीन होने लगी। इसी बीच देवदेवीकी दासीने मन्दिरके अध्यक्षके निकट विप्रनारायण द्वारा देवदेवीको इस प्रकार एक सोनेका थाल उपहारमें देनेकी घटना सुनाई। फिर क्या था, राज-कर्मचारियोंने राजाज्ञासे थाल समेत देवदेवी और विप्रनारायणको पकड़ कर राजदरवारमें उपस्थित किया। देवदेवीने राजाको चतुलाया कि ‘यह थाल कल रातमें मुझे विप्रनारायणका एक नौकर दे गया था।’ राजाने विप्रनारायणको सच-सच बात कहनेके लिये कहा। विप्रनारायणने कहा—‘महाराज ! मैं एक दरिद्र व्यक्ति हूँ, न तो मेरे पास कोई नौकर-चाकर ही है और न सम्पत्ति ही। मैं इस थालके सम्बन्धमें कुछ नहीं जानत।।’ आखिर चोरीका माल रखनेके अपराधमें देवदेवीको अर्थदण्ड दिया गया और कोई पक्का सावूत न मिलनेके कारण विप्रनारायणको सन्देहमें गिरफ्तार कर दिरासतमें रखा गया।

भक्तकी ऐसी दुर्दशा देखकर लक्ष्मीजीको फिर वही दया आई, उन्होंने पुनः श्रीरङ्गनाथजीसे उसपर कृपा करनेके लिये प्रार्थना की। रङ्गनाथ जीने राजाको स्वप्न दिया—‘मैंने अपने भक्तका उद्धार करनेके लिये यह सब लीला रची है। मैं स्वयं विप्रनारायणका नौकर बन कर अपना थाल देवदेवीको दे आया था। विप्रनारायण चिल्कुल निर्देषि है। उसे छोड़ दो।’ राजाको वही आश्चर्य हुआ। करुणावरुणालय

भगवान्‌की दयाकी ऐसी झाँकी पाकर वे गद्-गद् हो गये। प्रातःकाल विप्रनारायणको बड़े आदरसे कारामुक्त कर उनकी झोपड़ीमें पहुँचा दिया गया और देवदेवीका अर्थदण्ड लामाकर उससे बसूलकी गई रकम लौटा दी गई।

पश्चात्ताप और ‘भक्ताङ्गविरेणु’ नाम ग्रहण

इस घटनाने विप्रनारायणकी आँखें खोल दी। माया और मोहका नशा उत्तर गया था। अपने पूर्व कर्मों तथा करुणावारियि श्रीरङ्गनाथकी अद्वैतुकी दयाका स्मरण कर उनका हृदय पश्चात्तापसे भर गया। वे अपने दो वार-चार धिक्कार देने लगे। अपने किये हुए अपराधोंसे मुक्त होनेके लिये उन्होंने भगवद्भक्तोंका पादोदक पान किया और उनकी पवित्र चरण-रजको अपने मस्तक पर धारण किया। अब वे अपना परिचय ‘भक्ताङ्गविरेणु’ या तामिलभाषा में ‘तोरङ्गारङ्गिष्ठि’ के नामसे देने लगे। उनको जीवन-सरिताकी धारा पुनः प्रलब्धनसे भक्तिसागरकी ओर प्रवाहित होने लगी। वे वही श्रद्धासे भगवान्‌के भक्तोंकी सेवा करने गये। उनके हृदयमें साधारण लोगों की तरह नाना तीर्थोंमें भ्रमण करनेकी कामनाको तनिक भी स्थान न मिला। सारा जीवन श्रीरङ्गनाथकी सेवामें विताया।

देवदेवी—श्रीरङ्गनाथकी सेविकाके रूपमें

इवर देवदेवी भी उक्त घटनाके प्रभावसे अल्पती न रह सकी। उसको भी अपने पापमय जीवनसे छूणा हो गई। उसने अपनी सारी सम्पत्ति श्रीरङ्गनाथके चरणोंमें अर्पण कर दिया और दीन-हीन होकर आजीवन श्रीरङ्गनाथजीकी सेवाका त्रै ग्रहण कर लिया।

रचित ग्रन्थ

भक्ताङ्गविरेणुकी ‘तिरुमलाई’ और ‘तिरुप्पलियेहूचिच’ अति उत्कृष्ट रचनायें हैं। जिनमें तिरुमलाई—उनके द्वारा रचित श्रीरङ्गनाथजीके मधुरातिमधुर स्तवोंका एक अतीव सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है, जिसका अर्थ होता है—‘धन्य मालिका।’ और तिरुप्पलियेहूचिच-भक्तिरस-से सना हुआ एक उच्चकोटिका कविता-ग्रन्थ है,

जिसका अर्थ होता है—‘परमात्माका जागरण’। ये ये दोनों ग्रन्थ तामिल भाषामें हैं। प्रवाद है—इन्होंने १५० वर्षकी आयुमें वैकुण्ठ-विजय किया था।

श्रीरंगकी चतुर्थ चहारदीवारीके निर्माण तिरुमंगडीपर कृपा

इन्हींके समय तिरुमङ्गड़ी नामक एक प्रसिद्ध दानी व्यक्ति श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरकी चतुर्थ चहारदीवारीका

निर्माण दर रहे थे। भक्ताङ्गिरेशुके बगीचेका कुछ भाग चहारदीवारीके भीतर आ जाता था। किन्तु तिरुमङ्गड़ीने उनके बगीचेका बहु भाग छोड़कर ही चहारदीवारी पूरी कर दी। इससे भक्तरेशु वडे खुश हुए और तिरुमङ्गड़ीको बहुत ही आशीर्वाद दिये। गुरुपरम्पराई नामक ग्रन्थमें इस घटनाका उल्लेख पाया जाता है।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती,

प्रवृत्ति और निवृत्ति

[पूर्व प्रकाशित वर्ष २, संख्या २, पृष्ठ ३१६ से आगे]

प्रवृत्तिमार्गकी हेयता और उसके प्रमाण

प्रवृत्तिमार्गकी हेयताके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत कहते हैं—

सुखाय कर्माणि करोति जोको,
न तैः सुखं वान्यदुपरमं वा।
विन्देत् मूर्यस्तत् एव दुःखं,
यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः॥
(श्रीमद्भा० ११।१२)

‘बिदुरजीने कहा—भगवन् ! संसारमें सबलोग जड़सुखके लिए कर्म करते हैं, परन्तु उनसे न वो उन्हें सुख ही मिलता है और न उनका दुःख ही दूर होता है। वल्कि उससे भी उनको दुःख ही प्राप्त होता है। अतः हमें इस संसारमें क्या करना उचित है, यह आप सुझे कृपाकर बतलाइये।’

फिर कठोपनिषदमें भी—

अजीर्णतामसुतानामुपेत्य जीर्णन्,
मर्त्यः व्याधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरति प्रमोदान्,
अतिदीर्घं जीविते को रमेत ॥ (११२)

श्रीशंकाराचार्यकृत भाष्यार्थ—हे यमराज ! आप ही बतलाइये, मला आप सरीखे अजर-अमर महात्मा

देवताओंका दुर्लभ संग प्राप्त करके मृत्युलोकका जरामरणशील ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा जो अस्पराओंके (खिलोंके) सौन्दर्य, कीदा और आमोद-प्रमोदको अस्थिर जानकर इनके लिए कामना करेगा और वीर्यकाल तक इनमें आसक्त रहनेमें आनन्द मानेगा ?

निवृत्ति-रत्नरूप वैराग्यका अपूर्व फल और उसका श्रेष्ठत्व

इन सब तत्त्वोंकी विवेचना करनेपर ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा जिसे प्रवृत्तिमार्गमें अश्रद्धा न उत्पन्न होगी ? ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा जिसे यह संसार कारागाररत्नरूप बोध न होगा ? विषय सुखकी आपान् सुखकर, निरस हाद्वियोंको चबा-चबा कर विसकी भोग-पिपासा निवृत्ति होगी ? राजसिंहासन पर आरुद्ध हुआ ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा जो अपने राजमुद्राटको लातमार धोर जंगलमें प्रवेश कर भगवद्भजनमें प्रवृत्त न होगा ? ऐसा कौन अस्थायी योद्धा होगा जो अपने अख्लोंको फेंककर हरिनामकी माला प्रहण न करेगा ? अहा ! वैराग्यका क्या ही आश्चर्यजनक फल है ! उत्तम-उत्तम मनोहर अद्वालिकाएँ, बहुमूल्य रत्न-अलंकार,

परमासुन्दरी रमणियोंकी तिरछी चितवने, धनैश्वर्यसे परित विराट धनागार, हाथी, घोड़े, आदि गृह-पशु—ये सब मिलाकर भी रघुनाथ गोस्वामी जैसे विदेशी महापुरुषोंको कभी भी वाद्य नहीं कर सकते। सारे बंगदेशका मन्त्रित्वपद, उच्च सम्मान और सब्राटका स्नेह-प्याश भी रुपगोस्वामी जैसे महात्मा ओंको बाँधने में समर्थ नहीं होता। अहा ! अप्राकृत तत्वका क्या ही अद्भुत माधुर्य है; जिनको अप्राकृत आँखें हैं, वे ही उस परम रमणीय, देश-कालसे परे ब्रजलीलाकी उपलब्धी कर सके हैं। उनको अब यह छुट्र संसार कहाँ ? फिर भी रासपञ्चाध्यायमें कहते हैं—

का स्पृहङ्ग ते कल्प-पदायत-वेणुगीत-
सम्मोहिवाद्य-चरिताङ्ग चलेत् त्रिलोक्याम् ।
वैलोक्य-सौभग्यमिद्ब्र निरीच्य रूपं
यद्गो-द्विज-द्रु म-सुग्रामः पुलकान्यविभ्रन् ॥

(श्रीमद्भाग १०२६१४०)

हे श्यामसुन्दर ! तीनों लोकोंमें भी और कीन-सी स्त्री है, जो मधुर-मधुर पद और विविध प्रकारकी मूर्च्छनाओंसे युक्त तुम्हारी बंशीकी तान सुनकर सथा इस त्रिलोक-सुन्दर मोहिनी मूर्तिको—जिसे देखकर पशु, पक्षी, गो और वृक्ष भी रोमाडिचत, पुलकित हो जाते हैं—अपने नेत्रोंसे निहार कर आर्य मर्यादा से विचलित न हो जाय और कुलकी मार्यादा तथा लोक-जग्जाको त्यागकर तुमपर न्यौछावर न हो जाय।

इससे वैराग्यकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन हुआ।

वैराग्य और ज्ञानका यथार्थ स्वरूप और ज्ञानसे

वैराग्यकी उत्पत्ति

किन्तु इस वैराग्यका स्वरूप क्या है—यहाँ स्थिर करना कर्त्तव्य है। ज्ञान होने पर वैराग्य उदय होता है। किन्तु अब प्रश्न होता है—ज्ञान किसे कहते हैं ? जिस ज्ञानके द्वारा अप्राकृत और प्राकृत तत्त्वका यथार्थक्य वेवेचित होता है, उसे ज्ञान कहते हैं।

अद्वैतवादी पण्डितोंने इस विषयमें प्रबोधन विचार किया है; किन्तु उनका वह विवेचन अतिज्ञान दोषके अन्तर्गत आ पड़ता है। प्राकृत अर्थात् भौतिक पदार्थोंको वे अनित्य तो मानते हैं, परन्तु जीवात्माके

सम्बन्धमें उन्हें एक कठिन भ्रम पैदा होता है; वह यह कि वे लोग ब्रह्मके अतिरिक्त जीवोंका और कोई लय-स्थल ही नहीं देख पाते। उनके विचारसे जीवका ब्रह्मके साथ एक्यभाव ही ज्ञान कहा जा सकता है। किन्तु साथु पुरुष ऐसे ज्ञानको अतिज्ञान कहते हैं।

ज्ञान और अतिज्ञानका पार्थक्य

ज्ञान और अतिज्ञानमें बहुत अन्तर है। ज्ञानसे पदार्थकी सत्यताका निर्णय होता है। किन्तु अतिज्ञानसे सहज ज्ञान तो तिरोहित होता ही है, साथ ही हृदय भी कृतकर्मसे भरपूर हो जाता है। औपध-सेवनसे रोग निवारण होता है सत्य, किन्तु औपध जहरीली होने पर उसके प्रयोगसे दूसरे-दूसरे रोग पैदा हो जाते हैं। अद्वैतवादी महाशय लोग यद्यपि संसाररूप बृहत् रोगको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, किन्तु पहलेकी अपेक्षा भी अधिक भयकर रोग—अद्वैतवाद द्वारा जीवको आक्रमणकर उनके शान्ति प्राप्तिके मार्गमें बाधा डालते हैं। बहुतेरे विज्ञ अद्वैतवादियोंसे हमारा बापी विचार विनिमय हुआ है; किन्तु उनका सिद्धान्त नितान्त निराधार प्रतीत होता है।

अतिज्ञानियोंका भ्रम

पहले उनका कहना यह है कि ‘जिस समय जीव प्राकृत भ्रमसे (अविद्यासे) मुक्त होता है, उसके और ब्रह्मके बीच कोई आवरण न होने से जीवका ब्रह्मत्व-भाव अवश्यमेव संपादित होता है।’ किन्तु वहें दुःख की बात है कि अद्वैतवादी इसना विचार करने पर भी मूल विषयके सम्बन्धमें आखिर आनंद हो पड़ते हैं। अप्राकृत और प्राकृत दस्त्रोंमें भेद स्थापन करके भी मूलरोगके शिकार हो पड़े ! अप्राकृत तत्त्व कहते किसे हैं ? अप्राकृत तत्त्व वह पदार्थ है जो प्रकृतिसे परे हो। प्रकृतिके गुण अप्राकृत पदार्थमें संभव नहीं। अप्राकृत पदार्थका लक्षण और उसके सम्बन्धमें

अद्वैतवादियोंकी प्राकृत धारणा

ज्ञान और आनन्द—इन दो लक्षणोंसे अप्राकृत पदार्थ लक्षित होता है। आकार, विस्तार, स्थिति-स्थापकता आदि प्राकृत गुण अप्राकृत पदार्थमें नहीं

होते । वहाँ देश-कालका कोई आधिपत्य नहीं होता—
प्रवत्ते यत्र रजस्तमस्तयोः ।

'सत्त्वं च मिश्रं न च काल-विक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरे-
रनुवता यत्र सुरासुरचिंताः ॥

(श्रीमद्भागवत् २६.१०)

'उस वैकुण्ठधाममें रजोगुण, तमोगुण और हनसे मिला हुआ सत्त्वगुण भी नहीं है । वहाँ न तो कालका विक्रम है और न लौकिक सुख-दुःखका हेतु मायाका प्रभाव ही । फिर मायाके बाल-बच्चे—राग-द्रेष वहाँ कैसे पहुँच सकते हैं । वहाँ भगवान्के वे पार्षद लोग निवास करते हैं जिनका पूजन देखता और दानव दोनों ही करते हैं ।'

जिस पदार्थमें देश और काल तकका प्रभुत्व नहीं, उसमें आवरण, आच्छादन आदिका भाव नितांत असम्भव है । क्योंकि आवरण और ऐक्यका भाव

देशसे उत्पन्न होता है । नद-नदियोंका जल समुद्रमें गिरने पर नदित्वका भाव छोड़ कर समुद्रत्व प्राप्त हो जाता है—ऐसे उदाहरणोंसे अद्वैतवादी ब्रह्मत्व-प्राप्तिको ही सर्वोच्च अवस्था प्रतिप्राप्त करते हैं । किन्तु गौरसं देखिए, यथा यह उदाहरण प्राकृत नहीं हुआ ? फिर अद्वैतवादियोंका अप्राकृत ज्ञान रहा कहाँ ? बास्तवमें अद्वैतवादी लोग अप्राकृत तत्त्वका पूर्णरूपसे अनुभव नहीं कर पाते । अतः वे 'ऐक्य', 'आवरण', 'अभेद' आदि वाक्योंको अप्राकृत जीव और ब्रह्मत्वमें आरोप कर अपनेको सत्यज्ञान से वंचित रखते हैं । यही कारण है कि उनका ज्ञान अशुद्ध होता है और वहाँ तत्त्वका प्रकाश नहीं होता । अप्राकृत तत्त्वकी उपलब्धिके लिए स्वतःसिद्ध आत्म-प्रत्ययके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ।

(क्रमशः)

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

शरणागति

आत्मनिवेदन—ममतास्पद देहसमर्पण (मानसिक)

दारा-पुत्र-निज देह कुटुम्ब पालन में ।
रहा सर्वदा द्याकुल मैं रत मन में ॥
करूँ उपाजन अर्थ सदा यश कैसे पाऊँ ।
कन्या-पुत्र-विवाह भला कित्त भाँति रचाऊँ ॥
आत्मनिवेदन से अब चिन्ता और नहीं ।
यह संसार तुम्हारा है निर्बाहो प्रभो तुम्हीं ॥
तुम पालोगे मुझे दास निज जानि ।
तुम्हारी हृच्छा से प्रभु ! यह सुख मानि ॥
जीव कहे—‘मैं करूँ’ यह सत्य न होता ॥
क्या कर सके जीव, यदि आप न चाहें ।
आशा मात्र करे वह, फलती तब चाहें ॥
होकर मैं निश्चन्त भजूँगा तुमको ।
गृह का बुरा-भला दायित्व नहीं मुझको ॥
'भक्ति विनोद' निज स्वातन्त्र्य खोके ।
सेवे सदा चरण तब, नित्य अकिञ्चन होके ॥

अनुवादक —श्री सुशीलचन्द्र त्रिपाठी एम. ए.

मायावादकी जीवनी

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष २, संख्या २, पृष्ठ ३२२ से आगे]

त्रिविक्रमाचार्य

अच्युतप्रेत उस समय मायावादियोंमें माने हुए आचार्य थे। इसी समय शंकरानन्द या विद्याशंकर, त्रिविक्रमाचार्य और पद्मनाभाचार्य मायावादके प्रख्यात प्रचारक हुए थे, जिन्होंने शंकरके अद्वैतवादकी तीव्र साधना की है तथा उसका विपुल प्रचार-प्रसार किया है। ये सब लोग आनन्दतीर्थ मध्व-मुनिके समसामयिक थे। मध्वमुनिका जन्म दक्षिण भारतके दक्षिण कनाडा (मंगलूर) जिलेके अन्तर्गत उड्पीचेत्रसे सात मील दक्षिण-पूर्व पाजकाचेत्रमें मध्यगेह नामक एक वेद-वेदान्त पारंगत ब्राह्मणके घर १४४० शकाब्दमें, मतान्तरसे ११६० शकाब्दमें (= सन् २३८५० में) हुआ था। उनकी माताका नाम वेदविद्या था। इन्होंने वेदान्तके द्वैतवादका स्थापन कर मायावादकी समूर्ण युक्तियोंको खंड-खंड कर उड़ा दिया था। मध्वाचार्यके साथ उक्त चारों मायावादी आचार्योंका आमने-सामने शास्त्रार्थ हुआ था। रामानुजाचार्यने जैसे यादव प्रकाशका शिष्य होनेका नाट्य किया था, मध्वाचार्यने भी इसी प्रकार अच्युतप्रेतको अपने मतमें लाने के लिए उसके शिष्य होनेका अभिनय दिखलाया। या। मध्वाचार्यकी अलौकिक विद्वता, असाधारण तक्षणता और अटूट भजन बलके सामने अच्युतप्रेत परास्त हो गए। विद्यारण्य शास्त्रार्थमें परास्त होनेवर भी अपना मत परिस्थापन न कर सके, किन्तु त्रिविक्रमाचार्य और पद्मनाभाचार्यको माध्वाचार्यने शास्त्रार्थमें परास्तकर अद्वैतमतसे उद्धार किया और उन्हें वैष्णव मतमें दीक्षित किया।

त्रिविक्रमाचार्य अद्वैतमतके उद्भव विद्वान् आचार्य थे। इन्हींके पुत्र नारायणाचार्य 'मध्वविजय'

और 'मणिमंजरी' नामक प्रसिद्ध प्रन्थोंके रचयिता हैं। पीछे ये त्रिविक्रमाचार्य ही मध्यसम्प्रदायके एक प्रधान आचार्य हुए थे। इसलिए वे द्वैत और अद्वैत दोनों दर्शनोंमें पारंगत थे। उन्हीं के निकट शिक्षा प्राप्त कर नारायणाचार्यने शंकराचार्य और मध्वाचार्यके सम्बन्धमें अनेक तथ्योंका उद्घाटन जगतके सामने किया है। अतः शंकर और मध्व दोनों सम्प्रदायोंके लिए श्रीनारायणाचार्यके प्रन्थोंको प्रामाणिक रूपमें ग्रहण करना कर्त्तव्य है। 'मणिमंजरी' मध्यसम्प्रदायके किसी आचार्य द्वारा रचित प्रथ्य होने के नाते साम्प्रदायिक दोषोंसे दूषित है—यह कथन नितान्त अयुक्तियुक्त है। इसी समय देखा जाता है कि मध्वाचार्य अपनी अलौकिक तर्क-प्रतिभा और प्रबलतम शास्त्रप्रमाणोंके प्रतापसे शंकर सम्प्रदायके प्रधान-प्रधान दोनों आचार्योंको शास्त्रार्थमें पराजित किया। किन्तु शास्त्रार्थमें पराजित होने पर भी निरपेक्षताके अभावमें तथा पूर्व-संस्कारके कारण वाकी दो आचार्योंके हृदयचेत्रमें मायावादकी अशुद्ध ज्ञाण धारा प्रवाहित होती रही। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय मायावादने किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर तत्त्ववादी मध्वके निकट अपना मस्तक मुँडन कराया था।

'द्वितीय शंकर—विद्यारण्य'

विद्यारण्यका दूसरा नाम माधव था। उनके पिताका नाम सायन था। इसीलिये कोई-कोई विद्यारण्यको सायन-माधव भी कहते हैं। अपने आलोक-सामान्य पाण्डित्य और गंभीर व्यक्तिगतसे विद्यारण्यने शंकर सम्प्रदायमें अपना इतना ऊँचा

आसन जमा किया था कि कहा जाता है—आचार्य शंकरके बाद विद्यारण्यके समान इतना बड़ा विद्वान् कोई न हुआ है। इसलिये शंकर-सम्प्रदायमें उनको 'शंकरका अवतार' और 'द्वितीय शंकर' माना गया है। इसी समय मध्वसम्प्रदायमें अचोभ्य-मुनिका अभ्युदयकाल है। ये न्यायशास्त्रके अद्वितीय विद्वान् थे। इन्होंने उक्त द्वितीय शंकरको शास्त्रार्थ के लिए लक्षकारा। दोनों की सम्मतिसे रामानुज-सम्प्रदायके महापंडित महामति श्रीवेदान्त-देशिकाचार्य-को मध्यस्त माना गया। यहाँ यह कहना अत्युक्त न होगा कि उस समय मध्व और रामानुज सम्प्रदायमें 'स्वयं भगवानका अवतारत्व' और 'भजन का वैशिष्ट्य' आदि विषयोंको लेकर घोर विवाद चल रहा था। यह विवाद उस समय इतना बड़ा हुआ था कि दोनों सम्प्रदायोंमें परस्पर पुत्र एवं कन्याका आदान-प्रदान तथा आद्वयमें भोजन आदि सारे सामाजिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गए थे। दोनों आचार्योंमें इन्हीं आचार्य प्रबर वेदान्तदेशिक-की मध्यस्ततामें ही विचार संघर्ष आरम्भ हुआ। विद्यारण्य न्याय-शास्त्रमें विशेष पारंगत न होने के कारण परास्त हुए। अचोभ्य मुनिके न्याय-शास्त्रकी प्रखर पाण्डित्य-प्रतिभाके सामने मायावाद-अरण्य छिन्न-भिन्न हो पड़ा। अचोभ्य-मुनिके सम्बन्धमें दार्शनिक परिणाम-समाजमें निम्नलिखित श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है—

'असिना तत्त्वमसिना पर-बीव प्रभेदिना ।
विद्यारण्यमरण्यानि श्वचोभ्यमुनिरच्छिन्नत् ॥'

इस पराजयके बाद ही विद्यारण्यका प्रताप कम

हो गया। अचोभ्यमुनि और विद्यारण्यका आविर्भाव लगभग चौदहवीं शताब्दीमें हुआ था।

जयतीर्थ

उसके बाद वैष्णव सम्प्रदायमें जयतीर्थका नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। ये अचोभ्यमुनिके शिष्य थे। उन्हींकी कृपासे जयतीर्थ महादिविजयी परिणाम हुए थे। इनके रचित श्रीमध्वके वेदान्त-भाष्य पर 'तत्त्व प्रकाशिका' और 'तत्त्व-सुधा' नामक प्रथम विचार-जगत्में विशेष प्रसिद्ध हैं—'सुधा वा पठनीया, वसुधा वा पालनीया।' इन गुरु-शिष्य दोनोंके प्रचरण विचार-प्रतापसे अद्वैतवाद पर्वतकी कन्दराओंमें जा छिपा।

मध्व सम्प्रदायके, गौडपूर्णानन्द नामक आचार्य ने 'तत्त्व-मुक्तावली' या 'मायावादशतदूषणी' नामक प्रथमें मायावादमें एक सौ प्रकारके दोष दिखलाया है। इसी सम्प्रदायके व्यासतीर्थने 'न्यायमृतम्', और 'भेङ्गोजीवनम्' आदि प्रथमोंमें तथा मध्वाचार्य के लगभग तीन सौ वर्ष वाद वादिराजतीर्थ अर्थात् द्वितीय मध्वाचार्यने 'युक्ति-मलिलका' 'पाषण्डमत खण्डनम्' और 'सुधाटिष्पनी' आदि प्रथमोंमें मायावादको छिन्न-भिन्न कर डाला है। इन लोगोंके प्रबल प्रचारसे—अद्वैतवादके खण्डन और द्वैतवाद के मण्डनसे अनेक सत्य-पिपासु व्यक्तियोंने तथा प्रतिष्ठाशाली मायावादी परिणामोंने मायावादका परित्याग कर भागवत-सिद्धान्तके सामने अपना मस्तक झुकाया था। किन्तु वडे आश्चर्यकी बात है, किसी एक भी वैष्णवने अद्वैतमतके सामने अपना उच्चत मस्तक कभी नहीं झुकाया।

(क्रमशः)

गीताकी वाणी

(६)

तीसरा अध्याय

दूसरे अध्यायमें कर्म और ज्ञानके उपदेशोंको सुन-
कर अर्जुनको शंका होती है और वे श्रीभगवान्‌से
जिज्ञासा करते हैं—हे जनार्दन ! यदि कर्मोंकी अपेक्षा
ज्ञान ही श्रेष्ठ है, तो फिर मुझे इस हिसात्मक कर्ममें
क्यों लगाते हैं ? अर्थात् भगवान् एकबार स्वधर्मकी
रक्षाके लिए युद्ध करना ही ज्ञात्रियोंका धर्म बतलाते हैं
तो किर दूसरी बार राग-द्वे प आदि परित्याग कर इन्द्रियोंको
संयम करते हुए सुख और दुःखादि विषयोंमें
समभावका अवलम्बन करने वालोंको ही शान्त और
सुखी बतलाते हैं । ऐसी अवस्थामें शंका होती है कि
कर्म और ज्ञानमें कौन श्रेष्ठ है—इसकी मीमांसाके
लिए ही अर्जुनके यह पूछनेका नाट्य है ।

इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि ‘अधिकारीके
भेदसे दोनों प्रकारके उपदेशोंकी ही आवश्यकता है ।
जैसा अधिकारी, वैसा ही उपदेश । शुद्ध और अशुद्ध
चित्तके भेदसे दो प्रकारकी निष्ठावाले व्यक्ति होते हैं ।
जिनका अन्तःकरण ज्ञानकी भूमिकामें भलीभाँत
आरुढ़ होनेसे सर्वथा शुद्ध हो गया है, वे ज्ञानके
अधिकारी हैं और जिनका अन्तःकरण अभी अशुद्ध
है, उनके लिए कर्मयोगका उपदेश है । इश्वर-प्रीतिके
लिए कर्म करते-करते जब इनका भी चित्त विशुद्ध हो
जायगा, तब ये लोग भी ज्ञान-मार्गमें विचरण करने
लगेंगे । निष्काम-कर्मसे चित्तशुद्धि होती है और चित्त-
शुद्धि होनेपर ज्ञाननिष्ठा पैदा होती है । अतएव नि-
ष्काम-कर्मका आचरण किये विना कोई भी ज्ञाननिष्ठा
प्राप्त नहीं कर सकता । जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं
होता, कर्म-संन्यास प्रहण करनेपर भी कोई उपकार
नहीं होता । कोई जीव ज्ञान भर भी कर्म किए विना
रह नहीं सकता । इच्छा न करने पर भी वह विवश
होकर कर्म करनेके लिए वाप्त्य होता है—उसका स्व-
भाव ही ऐसा है । यदि कोई अपने कर्मनिद्रियोंको रोक-

कर ध्यानस्थ होनेकी चेष्टा करता है, तो अनादिकाल-
तक विषय-चिन्तामें अध्यस्त हुआ उसका मन उस
समय भी विषयोंका ही स्मरण करता रहता है । इस-
लिए वह मूढ़ात्मा ‘मिथ्याचारी’ कहलाता है । क्योंकि
आँखोंको मूँदकर कर्मनिद्रियोंको बाह्य विषयोंसे तो रोका
जा सकता है, किन्तु विषय-वासनाओंसे भरपूर अंतः-
करण विषयोंका त्याग नहीं कर पाता । इसलिए उसके
कर्मत्यागका वैसा प्रयास मिथ्या हो जाता है । किन्तु
जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको रोककर आसक्तिरहित हुआ
कर्मनिद्रियोंसे निष्काम-कर्मयोगका आचरण करता है,
वही श्रेष्ठ है । कर्महीनताकी अपेक्षा कर्म करना श्रेय-
स्कर है; क्योंकि शरीर-रक्षाके लिए भी कर्म करनेकी
आवश्यकता होती है । सर्व-प्रकारके कर्मोंका परित्याग
करनेसे शरीर-यात्राका निर्वाह होना भी कठिन हो
जायगा । इसलिए स्वधर्म-विहित कर्मके आचरणसे
शरीर-यात्राका निर्वाह करते हुए आत्माके अनुसंधान-
में प्रवृत्त होना ही कर्तव्य है ।

यह अर्थात् भगवत्प्रीतिके लिए किए जानेवाले
कर्मोंके अतिरिक्त अन्य कर्म मनुष्यके लिए संसार-
वन्धनका करण होता है । इसलिए भगवान् अर्जुनको
आसक्तिरहित होकर केवल भगवत्प्रीतिके लिए ही
कर्मोंका अनुष्ठान करनेके लिए उपदेश करते हैं ।

परम करुणामय प्रजापतिने पहली-विश्वरचनाके
समय प्रजाकी उन्नतिके लिए पुरुषार्थ-साधक यज्ञों
और उनको निरूपण करनेवाले वेदको प्रकटकर समस्त
प्रजाओंसे कहा कि ‘इस यज्ञसे तुमलोग देवताओंकी
आराधना करो और वे देवतावर्ग तुम्हारा पोषण
करेंगे । इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेको संतुष्ट करते
हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त होओगे । वेद-
विहित यज्ञके अनुष्ठानसे देवता संतुष्ट और संवर्द्धित
होनेपर वर्षाके द्वारा वसुन्वराको शस्यशालिनी बना-

देते हैं, जिससे प्रजा सुगमतासे जीवन-धारण कर परम-कल्याणके पथ पर अग्रसर होती है। जो यज्ञके बचे हुए पदार्थोंको खाते हैं, वे सब प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जो लोग देवताओंको तर्पण न कर केवल अपने उद्दर-पूर्ति आदि विषय-भोगोंको भोगनेमें ही मन्त्र रहते हैं, वे चोर हैं। ऐसे पापी तो पाप ही खाते हैं। गृहस्थ द्वारा गृहकार्योंमें—चूल्हा जलाने, आटा आदि पीसने, भाड़ देने, कूटने और पानीका घड़ा रखनेमें जो हिंसा होती है, उसे 'पञ्च-सूना' कहते हैं। इस पञ्चसूनाके प्रायशिनत्तके लिए रात्स्थोंमें देव, ऋषि, पितृ, नर और भूत—इन पाँच यज्ञोंका विधान दिया गया है। जो लोग पञ्चयज्ञकी उपेक्षा करते हैं, उनके पापोंकी तुद्धि होती है। किन्तु जो जीव तन, मन और वचनसे भगवान्के चरणोंमें शरणागत होते हैं, उन्हें पञ्चयज्ञके अनुष्ठानका कोई प्रयोजन नहीं होता, भगवत्कृपासे ही उनके समस्त पाप पूर्णरूपसे विनष्ट हो जाते हैं।

जीवोंका शारीर अन्नसे उत्पन्न होता है, अन्न वर्षा-से, वर्षा यज्ञसे, यज्ञ कर्मसे और कर्म वेदसे उत्पन्न होता है। वेद अज्ञर अर्थात् ब्रह्मसे प्रकट होता है। अतएव सर्वव्यापक ब्रह्म सदा-सर्वदा यज्ञमें विराजमान रहता है। इस संसारमें रहकर जो ईश्वर द्वारा प्रवर्तित इस जगत्-चक्रका अनुसरण नहीं करते—यज्ञादिका अनुष्ठान नहीं करते, वे भोगासक्त व्यक्ति पापायु हैं और उनका जीवन धारण करना व्यर्थ है।

अज्ञ और अशुद्ध-चित्त जीवोंके लिए कर्म करना अवश्य कर्त्तव्य है, किन्तु आत्माराम पुरुषोंके लिए लौकिक अथवा वैदिक कोई कर्त्तव्य नहीं है। उनका न तो कर्मोंके द्वारा स्वर्ग या मोक्षादि प्राप्त करनेसे कोई प्रयोजन है, और न उनको कर्म न करनेसे कोई पाप ही लगता है। क्योंकि उनका किसी भी पदार्थसे किसी प्रकारके रार्थका सम्बन्ध नहीं होता।

इसलिए आसक्तिरहित होकर अपने कर्त्तव्यकर्मोंका आचरण करना ही कर्त्तव्य है। भगवान्के निमित्त कर्म करनेसे अन्तःकरण क्रमशः शुद्ध हो जाता है, और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जीव ज्ञान लाभ कर-

परमपुरुषार्थको प्राप्त कर लेता है। जनकादि राजपिंगण भी करणीय कर्मोंके आचरणसे ही ज्ञाननिष्ठा और सिद्धिको प्राप्त हुए थे। अतएव उनका अनुसरणकर मानव-समाजके कल्याण-साधनके लिए—लोक शिक्षाके लिए कर्मका आचरण करना उचित है। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अज्ञानी लोग भी देखादेखी वही करते हैं, श्रेष्ठ पुरुष लौकिक या वैदिक जिस किसी शास्त्रको प्रमाणके रूपमें प्रदण्ण करते हैं, अज्ञानी लोग भी विना किसी विचारके उसे प्रदण्ण कर लेते हैं। अज्ञानी पुरुष जिन कर्मोंका आचरण आसक्त हुआ कर्त्तव्याभिमानसे युक्त होकर करता है, ज्ञानी पुरुष उन्हीं कर्मोंको अनासक्त हुआ कर्त्तव्याभिमानसे रहित होकर करता है। कर्ममें आसक्त अज्ञानियोंको सहसा कर्त्तव्यागका उपदेश नहीं देना चाहिए। कर्म त्यागका उपदेश देनेसे उनकी तुद्धि विचलित हो जाती है, और उनका उपकार होनेके बदले अपकार ही होता है। इसलिए ज्ञानी पुरुषोंको उचित है कि वे स्वयं कर्मोंका आचरण करते हुए कर्मासक्त लोगोंको कर्मकी शिक्षा दें। समस्त कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न इन्द्रियों द्वारा स्वयं संपादित होता है—किन्तु कर्त्तव्याभिमानके कारण अज्ञानी जीव अपनेको उन कर्मोंका कर्त्ता मानकर आसक्त होता है। तस्वज्ञ पुरुष इन्द्रिय-समूहको विषयोंमें विचरणशील और आत्माको विषय-व्यापारसे रहित जानकर किसीभी कर्ममें आसक्त नहीं होता। वह लौकिक और वैदिक समस्त कर्मोंको सर्वार्थी परमेश्वरको अर्पण कर निष्ठाम भावसे करता है। जो भगवान्के वचनोंमें अद्वा रखते हुए तथा उनमें दोष न देखते हुए भगवान्के उपदेशोंके अनुसार कर्मका आचरण करते हैं, वे सब प्रकारके कर्म-वन्धनोंसे लुटकारा पा लेते हैं। परन्तु जो लोग भगवान्के उद्देश्यको न समझकर नास्तिकबुद्धिके कारण भगवान् द्वारा प्रवर्तित कर्मोंका आचरण नहीं करते, ऐसे हिताहित विवेकसे रहित पुरुषोंका अध्ययन अवश्यभावी है।

यदि ऐसा कहा जाय कि साक्षात् भगवान्की (इन्द्रियनिप्रदरूप) आज्ञाका पालन सभी लोग सिर

भुकाकर करेंगे; किन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देखा जाता है कि ज्ञानी पुरुष भा अपने पूर्व जन्मके संस्कारसे बहित हुए स्वभावके अनुसार ही चेष्टा करते हैं। सभी प्राणी अपने-अपने पूर्वजन्मान्तरमें स्वभावके अधीन होकर ही चलते हैं। अतः शासनके द्वारा उनके जन्म-जन्मान्तरके अभ्यस्त स्वभावके विरुद्ध कुछ भी नहीं कराया जा सकता है। हाँ, ऐसी अवस्थामें एक मात्र सत्संगसे ही कुछ परिवर्तन हो सकता है।

समस्त प्राणी प्रकृतिके अधीन हैं। उनकी सारी कामनाएँ और समस्त चेष्टाएँ पूर्व-जन्मके संस्कारके अधीन होती हैं। आँखोंका रूपमें, कानोंका शब्दमें, नाकका गन्धमें, रसनाका रसमें तथा त्वचाका स्पर्श विषयमें त्वाभाविक अनुराग होता है। इन विषयोंकी प्राप्तिमें वाधा पड़ने पर वासनाओंको ठेस पहुँचता है, जिससे बिद्रोष पैदा होता है। ये राग-द्वेष—कोई अथवा किसीके नियमके अधीन नहीं होते, बल्कि ये ही मनुष्यको हित अथवा अहित कर्ममें नियुक्त करते हैं। शास्त्र-ज्ञानमें रहित अपरिणामदर्शी जीव शास्त्रकी आज्ञा न जानकर आसक्त होकर इन्द्रियोंके विषयकी ओर दौड़ता है तथा अपने सर्वनाशका रास्ता चौड़ा करता है। इसलिये राग-द्वेषको सारे अन्योंकी जड़ जानकर उनके अधीन नहीं होना चाहिये।

तब युद्धरूप दुःखप्रद हिंसात्मक कर्ममें प्रवेश न कर भिजाद्वारा ही जीविका निर्वाह करना कर्त्तव्य है—ऐसे विचारका खण्डन करते हुए भगवान् कहते हैं—अपने-अपने वर्णांश्रमधर्मके अनुसार नियत किये गये कर्मोंका आचरण करना ही कर्त्तव्य है। अच्छी तरह से अनुष्ठान किये हुए पराये धर्मकी अपेक्षा अपना त्रुटियुक्त अनुष्ठान किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है। अपने धर्ममें मरना कल्याणकारी होता है, किन्तु पराये धर्मका अवलम्बन करना अनुचित है। अपने धर्मके आचरणमें इस लोकमें पवित्र कीर्ति और परलोकमें सुख-सौभाग्यकी प्राप्ति होती है (जिनको वर्णांश्रम-अभिमान प्रबल है, उनके लिये उनके वर्णांश्रमान्वित कर्मोंका आचरण करना कर्त्तव्य है, परन्तु

भगवद्भग्नमें लूचि उत्पन्न होने पर समस्त धर्मोंका परित्यागकर भगवान्के चरणोंमें शरणागत होना ही एकमात्र कर्त्तव्य है—यही भगवान्का चरम उपदेश है।)

अर्जुन फिर प्रश्न करते हैं—तब यह मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पाप कर्मोंमें लिप्त होनेके लिये बाध्य होता है? श्रीभगवान् इसके उत्तरमें कहते हैं—रजोगुणसे उत्पन्न यह काम और उससे उत्पन्न क्रोध ही प्राणियोंके प्रधान शत्रु हैं। जैसे आग धूपेंसे आच्छादित होने पर भी कुछ कुछ उषण्टा प्रदान करती है, दर्पण मैलसे ढका होनेसे उसमें प्रतिविम्ब नहीं दीखता तथा गर्भस्थ शिशु मिल्लीसे आच्छादित रहने पर अपना हाथ-पैर पसार नहीं सकता, उसी प्रकार यह काम ही कहीं कुछ शिथिल रूपमें, कहीं कुछ गाढ़े रूपमें और कहीं अत्यन्त गाढ़े रूपमें—त्रिविधि प्रकारसे जीवोंके ज्ञानको ढके हुए है।

इन्द्रियाँ, मन, और बुद्धि इस कामके अधिष्ठान कहलाते हैं। इन तीनोंद्वारा काम ज्ञानको ढककर जीवात्माको मोहित करता है। इसलिये जब इन्द्रियोंके दमन होने पर मन और बुद्धि वशीभूत हो जाते हैं, तब कहीं इस भयकर कामरूप शत्रुको पराजय किया जा सकता है। क्योंकि संकल्पात्मक मन और निश्चयात्मिका बुद्धि इन्द्रियोंकी सहायतासे ही जीवको विषयानुभवपरायण कराकर आत्मज्ञानमें विमुख करा देते हैं। जड़ शरीरसे प्रबल इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंसे प्रबल मन है, मनसे प्रबल बुद्धि है, और बुद्धिसे भी प्रबल आत्मा है। यही सर्वश्रेष्ठ आत्मा इस समय इन्द्रियोंके अधीन होकर संसारमें नाना प्रकार दुःख कष्ट मेल रहा है। ऐसी अवस्थामें बुद्धिकी सहायतासे कामरूप शत्रुको इन्द्रिय-दमन द्वारा पराजित करने पर आत्माका अपना स्वभाव जग पड़ता है। उसी समय जीव नित्य-कृष्णदासरूप अपने स्वभावमें प्रतिष्ठित होकर नित्य कल्याणका अधिकारी होता है।

—क्रिदगिडस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौतोमहाराज

ग्रन्थचक्रवर्ती—श्रीमद्भागवत

(३)

जिनकी श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें अनन्य भक्ति है, अधोक्षज-मूर्ति श्रीमद्भागवतका अर्थ सुषुप्तुलपसे समझ सकते हैं। भक्ति द्वारा ही श्रीमद्भागवत समझा जा सकता है। विना भक्तिके केवल विषा, बुद्धि, अथवा पाणिडल्यके सहारे श्रीमद्भागवत बूझ लेना बौनेका चाँद पकड़ना है। शास्त्रका कथन है—‘भक्त्या भागवतं प्राप्ता’ न बुद्धया न च टीकया’। इसलिए ग्रन्थभागवत भक्त-भागवतके आनुगत्यमें ही आलोचनीय है। श्रीचैतन्यचरिता-मृतका स्पष्ट निर्देश है—

जाह भागवत पद वैष्णवेर स्थाने ।
एकान्त आश्रयकर चैतन्य-चरणे ॥
चैतन्येर भक्तगणेर निष्प कर संग ।
तब से जानिवा सिद्धान्त समुद्र-तरङ्ग ॥
(चै० च० अ० २।१३१-१३२)

वैष्णव पास भागवत कर आध्ययन ॥
(चै० च० अ० १३/११२)

आचारवान् भक्त-भागवत ही श्रीमद्भागवतकी निरपेक्ष सत्य कथाओंका निर्भीक होकर प्रचार-प्रसार करते हैं। भक्त निष्कपट और निर्मत्सर होते हैं। श्रीमद्भागवत ही उनका जीवन हैं। श्रीमद्भागवत-के प्रथम स्कन्धसे लेकर द्वादश स्कन्ध तक सभी जगह प्रोफित-कैतव अर्थान् कपट-रहित शुद्ध भक्तिधर्मका उपदेश किया गया है। उनमें धर्म, अर्थ, काम या मोक्षकी कामनारूप कपट-धर्मको कहीं भी स्थान नहीं मिला है। किन्तु अभक्त पाठक या वक्ताके निकट श्रीमद्भागवतका अवण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे कल्याण होनेके बदले अकल्याण ही साधित होता है—

अवैष्णव-मुखोदगीर्णं पूतं हरि-कथासृतम् ।
अवणं नैव कर्मच्यं सर्वोच्छिष्टं यथा पथः ॥

(पद्मपुराण)

दूध पीनेसे शरीर पुष्ट होता है। किन्तु वही दूध जैसे साँप द्वारा पिये जाने पर विषका काम करता है, उसी प्रकार साधु-मुख-विगलित हरिकथा-का अवण करनेसे जीवका परम कल्याण होता है, किन्तु असाधु पुरुषोंके मुखसे निकली हुई हरिकथाके अवणसे कोई कल्याण तो होता ही नहीं, प्रत्युत अकल्याण ही होता है। इसलिए साधु पुरुषोंके अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्तिके निकट श्रीमद्भागवतका अवण न करना ही अच्छा है। जगद्गुरु श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमद्भागवत ४।२०।२४ श्लोककी टीकामें कहते हैं—

‘मधुरमपि जलं ज्ञार भूमि प्रविष्टं-यथा विरसं
भवति तथैचावैष्णव-मुखनिर्गतो भगवद्गुणोपि
नातिरोचकः ।’

जल पवित्र और स्वादिष्ट होता है। किन्तु सारी भूमिका जल जैसे अरुचिकर होता है, वैसे ही अवैष्णव पुरुषोंके मुखसे निकली हुई भागवती कथा जीवोंके लिये हानिकारक होती है। वे और भी कहते हैं—

भागीरथ्या जलं शुद्धं मधुरमपि तत्तटवन्येरन्द-
निम्ब, चिढ़चा-कपिथ-विषवृक्षादिभिः स्वस्वमूल द्वारा
गृहीत विरसं विरुद्धरसं च यथा भवेत्तथैव तेषां
(अभक्तानां) व्याख्यातुणां मुखं प्राप्य वेदार्थो
विरसो विरुद्धफलप्रदश्च भवेत् ।

(श्रीमद्भा० १।१४।८)

गंगातटके निम्ब, कैथ और विष आदि वृक्ष गंगाका मधुर और पवित्र जल प्रहण करने पर भी

जैसे उनका रस अरुचिकर और प्राण-नाशक होता है, वैसे ही परम सुखको देनेवाली नित्यकल्याणमयी हरि कथा भी अभक्त द्वारा उच्चरित होने पर विरस या विरुद्ध कल्पको देनेवाली बन जाती है।

पवित्र आचरण वाले भक्तोंके निकट—जिनको विषयोंके प्रति आसक्ति नहीं है, श्रीमद्भागवत अवगत करना मंगलजनक होता है। विषयोंमें आसक्त आचारहीन और केवल दूसरोंको उपदेश देनेमें परिणित व्यक्तियोंके निकट भगवत्कथा सुननेसे कल्याण होने की कोई संभावना नहीं। श्रीजीव गोस्वामी भक्ति-संदर्भ (२०३ अनुच्छेद) में ब्रह्म-वैबत्ति पुराणका वचन उद्धृत कर कहते हैं—

वक्ता सरागो नीरागो द्विविषः परिकोच्चितः ।
सरागो लोलूपः कामी तदुक्तं हन्त संस्पृशेत् ॥
उपदेशं करोत्येव न परीक्षां करोनि च ।
अपरीक्षयोषदिष्टं यत् लोकनाशाय तदभवेत् ॥

(ब्रह्मवैबत्ति पुराण)

धर्म वक्ता दो प्रकारके होते हैं—सराग और नीराग। सराग वक्ता—लोभी और कामी होता है। उसकी कथाएँ श्रोताके हृदयको स्पर्श नहीं करती। ऐसा वक्ता पर-उपदेशमें ही परिणित होता है, पर स्वयं उसका आचरण नहीं करता अथवा अपने जीवनमें उस विषयकी सत्यता स्वयं उपलब्धि नहीं करता। इसलिए उसकी कथाएँ प्राणहीन उक्तियाँ मात्र ही रह जाती हैं। तोतेकी तरह रटी हुई बोलियोंमें न तो अपना ही कल्याण किया जा सकता है और न दूसरोंका ही। किसी वातकी स्वयं परीक्षा न कर उसे दूसरोंके लिए उपदेश देनेसे उसके द्वारा जगत्का नाश ही होता है। इसलिये आचरणशील भक्तके निकट श्रीमद्भागवत सुनना कर्तव्य है।

जो लोग किसी भक्तके निकट श्रीमद्भागवत्को समझने वूझने की आवश्यकता नहीं समझते, बल्कि अपनी विद्या, बुद्धि और पाणिडत्यके सहारे ही उसे समझ लेना चाहते हैं, वे बंचित होते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं। भगवान्ने मोहिनी अवतारमें जैसे दैत्योंको ठगा था— समुद्र-मन्थनसे

निकले अमृत-कलशको अपने आश्रित देवताओंमें ही वितरण किया था, उसी प्रकार भगवान्के बाल्मीय अवतार श्रीमद्भागवत वहिमुखलोगोंको बंचित कर मोक्ष-सुखको भी धिक्कार देने वाले वेद-सागरके मंथनसे निकले हुए अपने भक्ति-अमृतका वितरण अपने आश्रित जनोंमें ही करते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने इस तथ्यका उद्घाटन श्रीमद्भागवतके उपसंहारके अध्यायमें आशीर्वाद-सूचक ‘पृष्ठे भास्यदमन्दमन्दरगिरिषावाप्रकण्डु-यनात्’—इस श्लोककी टीकामें किया है—

‘भगवता मोहिनीरूपेण असुरान् वञ्चयित्वा समुद्र मथनोत्यमसृतं स्वभक्तेभ्यो देवेभ्यो यथा दत्तं तथैव वेद-समुद्र-मथनोत्यं भक्त्यसृतमिदं श्रीभागवत-रूपेण अभक्तानसुरान् वञ्चयित्वा पुष्मभ्यं ददात्विति भक्तान् प्रति आशीर्वादः ।’

भक्ति भगवत्प्राप्तिका अचूक उपाय है। भक्तिके चौसठ साधन अंगोंमें साधुसंग, हरिकीर्तनादि पंच-अङ्ग ही श्रेष्ठ हैं। जिनमें श्रीमद्भागवत-अवगत भी एक है। श्रीमद्भागवतका अर्थ रसिक भक्तके सङ्गमें ही आस्वादन करना चाहिए। शास्त्र कहते हैं—

सजातीयाशये स्तिष्ठे साधौ सङ्गः सतोवरे ।

श्रीमद्भागवतार्थनामास्वादो रसिकैः सह ॥

(भक्तिसामृतसिन्धु)

सजातीय वासनासे युक्त स्नेहशील अथव अपने से श्रेष्ठ साधुका ही संग करना कर्तव्य है। वैसी रसिक भक्त-मण्डलीमें ही श्रीमद्भागवतके अर्थका आस्वादन करना चाहिए। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहते हैं—

साधु संग, नामकीर्तन, भागवत-अवगत ।

मधुरावास, श्रीमत्तिर अद्वाय सेवन ॥

सकल साधन श्रेष्ठ एहं पंच संग ।

कृष्णप्रेम जन्माय एहं पौचर अल्पसंग ॥

(चै. च. म. २३। १२५-१२६)

दुरुहादसुतवीर्येऽस्मिन् अद्वा दूरेऽस्तु पञ्चके ।

यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्दिवां भावजन्मने ॥

(भ. र. सि.)

भावार्थ यह कि साधुसंग, हरिसंकीर्तन, श्रीमद्-भागवत अवण, मशुरावास, और श्रद्धापूर्वक अर्चन—ये पाँच अंग भक्तिके समस्त (६४ प्रकार भक्ति-अंगोंसे) साधन अंगोंसे श्रेष्ठ हैं। इन अतिशय अद्भुत शक्तिशाली पंच-अंगोंके प्रति अद्भुती तो बात ही क्या, इनसे किसी प्रकारका सम्पर्क होनेसे ही निरपराध व्यक्तियोंको भगवान्‌के चरणोंमें रति हो जाती है।

श्रीगौरकृष्णके नित्यपार्षदवर श्रीहप गोस्वामी निन्दाके मिस श्रीमद्-भागवतका विचित्र माहात्म्य बर्णन कर रहे हैं—

शंके नीताः सपदि दशमस्कन्धपद्यावलीनां
वर्णान् कर्णात्वनि पथिकतामानुपूर्वाद्भवद्भिः ।
हंसो डिम्भा परमशुभदान् हन्त धर्मार्थकामान्
यद् गर्हन्तः सुखमयममी मोहमप्याक्षिपन्ति ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

‘ऐ मुखों ! जो श्रीमद्-भागवत धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गको विकार प्रदान करते हैं तथा मोक्षको हेय बहसाते हैं, प्रतीन होता है कि तुमलोंगों के करणोंमें उन्हीं श्रीमद्-भागवतीय दशम स्कन्धके पद्यों के वर्ण-समूहने प्रवेश किया है; क्योंकि धर्म, अर्थ और कामरूप विषय-सुख तथा मुक्ति-मुख अब तुम्हें रुचिकर प्रतीत नहीं होते। हाय ! क्या ही घोर अन्याय तुमलोंगोंने किया है !’

उक्त शब्दोंमें श्रीमद्-भागवत अवण करनेवालोंके महासौभाग्यकी प्रसंशा की गयी है। क्योंकि वे सबकी अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त करते हैं। श्रीमद्-भागवतकी ध्वनि जिनके करण-पथमें प्रवेश करती है वे शीघ्र ही भगवन् साक्षात्काररूप परम पुरुषार्थ प्राप्त कर लेते हैं। उस समय सारे विषय सुख और मुक्ति-सुख उनके सामने तुच्छ हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि भक्ति-सुख इन दोनों सुखोंसे अनन्त गुण श्रेष्ठ है। श्रीजीव गोस्वामी भक्ति-सन्दर्भमें ‘अवण’ के प्रसंग पर कहते हैं—

तत्रापि अवणे श्रीमद्-भागवतअवणान्तु परम

श्रेष्ठं, तस्य ताहराप्रभावमयशब्दात्म फलवान् परम-रसमयत्वाच । तत्र पूर्वस्माद् यथा—
(श्रीमद्-भा० ११२)

श्रीमद्-भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः ।
सत्यो हृष्टवहस्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रुपुभिस्तत्त्यात् ॥ इति
महामुनिः सर्वमहन्महनीयचरणपङ्कजः श्रीभगवान् । अत्र किम्बा परैरित्यादिना शब्दस्वाभाविक माहात्म्यं दर्शितम् । उत्तरस्माद् यथा—
(श्रीमद्-भा० १२१३।१५)

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्-भागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततुपस्य नान्यत्र स्याद्गतिः कवचित् ॥ तद्रस
एव असृतं तेन तृप्तस्य ।

श्रीमद्-भागवत-अवण भगवान् जैसे महा-महिम प्रभावशाली शब्दात्मक और परम रसमय हैं। इन्हीं दो हेतुओंसे ये समस्त प्रकारके अवणोंमें श्रेष्ठ हैं। इनमें प्रथम हेतुके सम्बन्धमें उदाहरण—जो सुकृतिशाली पुरुष महामुनिकृत इन श्रीमद्-भागवतके अवण की इच्छा करते हैं, भगवान् उसी समय अविलम्ब उनके हृदयमें आकर स्वेच्छासे बन्दी बन जाते हैं, किन्तु दूसरे शास्त्रोंसे यह बात नहीं होती। महामुनि का अर्थ—निखिल महाजन लोग जिनके चरणोंकी पूजा करते हैं, उस ‘श्रीहरि’ से है। श्रीहरि ही इस ग्रन्थके कर्ता हैं। ‘दूसरे शास्त्र-समूहसे’—इत्यादि वचनोंसे इनके शब्द-समूहका स्वाभाविक माहात्म्य प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय हेतुका उदाहरण—“श्रीमद्-भागवत समस्त वेदान्त-शास्त्रोंके सार हैं। इस श्रीमद्-भागवत रसामृतका आस्वादन जिनलोंगों ने पाया है, उनकी तृप्ति अन्यान्य शास्त्रोंसे नहीं होती।”

अत्यन्त प्राचीनकालसे ही विद्वानोंके समाजमें ग्रन्थ सम्बाद श्रीमद्-भागवतका अत्यधिक आदर होता आरहा है। प्राचीनकालसे आजतककी इसके ऊपर रचित असंख्य टीकाएँ और निबन्ध ग्रन्थ इस बातकी साक्षी दे रहे हैं। श्रीमद्-भागवतके अतिरिक्त अन्य किसी भी शास्त्रके ऊपर इतनी अधिक टीकाएँ अथवा निबन्ध-ग्रन्थ नहीं देखे जाते हैं। इनमें

मुख्य-मुख्य टीकाओं तथा निवन्ध-ग्रन्थोंके नाम दिये जा रहे हैं—

श्रीमद्भागवतकी कतिपय टीकाएँ और निवन्ध ग्रन्थ

श्रीमध्बाचार्यकृत भागवततात्पर्यनिण्य, निम्बाकीय श्रीशुकदेवकृत सिद्धान्तप्रदीप, श्रीविष्णुस्वामीकृत टीका, श्रीविष्णुपुरीकृत भागवतामृत और भक्तिरत्नावली, श्रीधरस्वामीकृत भावार्थदीपिका टीका, श्रीनिवासाचार्यकृत टीका, हनुमद्भाष्य, वासनाभाष्य, विद्वत्कामधेनु सम्बन्धोंकि शुक्रहृदय, परमहंसप्रिया, वोपदेवकृत अनुकम, मुक्ताकल और हरिलीला, वीरराधवाचार्यकृत भागवतचन्द्रचन्द्रिका, बल्लभाचार्यकृत सुवोधिनी टीका, श्रीसनातन गोस्वामीकृत वृहद्वैष्णव तोषिनी टीका (दशम स्कन्ध) और वृहद्भागवतामृत, श्रीलहृप गोस्वामीकृत संक्षेप भगवतामृत, श्रीजीव गोस्वामीकृत क्रम-सन्दर्भटीका और पद्सन्दर्भत्मक श्री भागवत सन्दर्भ—(क) तत्त्व-सन्दर्भ, (ख) भगवन्-सन्दर्भ, (ग) परमात्म-सन्दर्भ, (घ) कृष्ण-सन्दर्भ, (ङ) भक्ति-सन्दर्भ, (च) प्रीति-सन्दर्भ, उन्होंके द्वारा रचित श्रीगोपालचम्पू, कविकण्ठपुरकृत आनन्दवृन्दावनचम्पू, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकृत सारार्थदिशिनी टीका, श्रीवल्लदेव विद्याभूषणकृत वैष्णवानन्दिनी टीका (दशम स्कन्ध), सिद्धान्तरत्न और सिद्धांत-दर्पण, श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरकृत भागवतार्क-मरीचिमाला, श्रीलभक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामीकृत गौडीयभाष्य, गोविन्द विद्याविनोदकृत भागवतसार, वृन्दावन गोस्वामीकृत भागवतरहस्य, अमृतरंगिनी, आत्मप्रिया, कृष्णपदी, जयमङ्गला, तत्त्वप्रदीपिका, तात्पर्यचन्द्रिका, भगवलीलाचिन्तामणि, रसमञ्जरी, शुकप्रिया, नरहरिकृत टीका, श्रीनिवासकृत प्रकाश, कल्याणरायकृत तत्त्वदीपिका, कृष्णभट्टकृत टीका, कौरसाधुकृत टीका, गोपाल चक्रवर्ती टीका, चूडामणिचक्रवर्तिकृत अन्वयवोधिनी, नरसिंहाचार्यकृत भावप्रकाशिका, नारायणकृत चक्रवर्तिभाष्य, भेदवाक्षीकृत टीका, यदुपतिकृत टीका, विजयध्वजकृत पदरत्नावली, विद्वलकृत टीका, विश्वेश्वरनाथकृत भागवतपुराण-

प्रामाण्य, ब्रजभूषणकृत टीका, शिवरामकृत भावार्थदीपिका, केशवदासकृत भावार्थदीपिका-स्नेहपूरणी, सत्याभिनवतीर्थकृत टीका, सुदर्शनसुरिकृत टीका, हरिभानुशुक्लकृत भागवतपुराणक्रमभा, गिरिधरकृत वालप्रबोधिनी भागवतचूर्णिका, रामकृष्णकृत भागवत कौमुदी, सदानन्दकृत भागवत पद्मत्रय-व्याख्यान, जगरामकृत भागवतप्रथमश्लोक टीका, वंशीधर शर्माकृत भागवताचार्यपद्य व्याख्याशतक, भागवतलौलाकल्पद्रुम, वालकृष्ण दीक्षितकृत सुवोधिनी, वासुदेवकृत बुधरञ्जनी, बलजभाचार्यकृत भागवततत्त्वदीप, भागवततत्त्वनिवन्ध और अनुकमणिका, पुरुषोत्तमकृत भागवततत्त्व निवन्धयोजना, पीताम्बरकृत भागवत-तत्त्वदीपप्रकाश-आवरणभंग, विद्वलदीक्षितकृत निवन्धविवृतिप्रकाश, वेदस्तुतिव्याख्या, राधाचरणगोस्वामीकृत भावार्थदीपिका-दीपन, सर्वोपकारिणी, ब्रह्मानन्दभारतीकृत एकादशस्कन्धसार, शिवसहायकृत भागवत-शङ्कानिवारण-मञ्जरी, सुदर्शनी, प्रहरिणी, सुनिप्रकाशिका, वोधिनीसार, माधवीयम्, वामनी, एकमाथी, शिवप्रकाशसिंहकृत भागवततत्त्व-भाष्कर, राधामनोहर-शर्माकृत भागवततत्त्वसार, केशवशर्माकृत भागवत-दशमस्कन्धकथासंप्रह, अभिनव कालिदासकृत भागवत-चम्पू, अक्षयरास्त्रिकृत भागवतचम्पू, चिदम्बरकृत भागवतचम्पू, रघुनाथकविकृत भागवतचम्पू, तत्त्वभागवत, मन्त्रभावगत, भागवतकोइपत्राणि, भागवतपूराण-महाविवरण, प्रियादासकृत भागवत-पुराण-प्रकाश, भागवतपुराण-प्रसङ्ग हष्टान्तावली, भागवत-पुराण-वृहत्संप्रह, भागवत पुराण-वन्धन, रामानन्दतीर्थकृत भावार्थदीपिका, प्रकरणक्रमसंप्रह, भावार्थदीपिका-संप्रह, भागवतपुराण-मञ्जरी, भागवतपुराणतत्त्व-संप्रह, भागवतपुराणशय, वृहद्भागवतमाहात्म्य,-और लघुभागवतमाहात्म्य, अनुपनारायणकृत भागवतपुराण-सूचिका, पुरुषोत्तमकृत भागवतपुराण-स्वरूपविषयकशङ्कानिरास, गणेशकृत भागवतादि-तोषिणी, भागवतश्रुतिगीता, भागवतसंक्षेप व्याख्या, भागवतसंप्रह, भागवतसारसमुच्चय, भागवत-सिद्धान्तसंप्रह, भागवत

स्तोत्र, भागवतामृतकणिका, भागवताष्टक, भागवतो-
त्पल, भागवतादितन्त्र, रामाश्रमकृत दुर्जनसुख-
चपेटिका टीका, भागवतसप्ताहानुकमणिका, भागवत-
पुराण-अनुकमणिका ।

अब प्रश्न यह होता है—श्रीशङ्कराचार्यने श्रीमद्भा-
गवतके ऊपर कोई टीका अथवा भाष्य क्यों नहीं
लिखा ? इस प्रश्नका उत्तर श्रीजीवगोस्वामीने तत्त्व-
संदर्भमें दिया है—शङ्कराचार्यने मोक्ष-सुखका श्रेष्ठत्व
स्वीकार किया है । किन्तु श्रीमद्भागवतमें स्पष्टरूपमें
मोक्ष-सुखकी हेयता दिखलाकर भक्ति-सुखका श्रेष्ठत्व
प्रतिपादन किया गया है । श्रीशङ्कराचार्य इस बातको
अच्छी तरह जानते थे कि श्रीमद्भवागतका सिद्धान्त
उनके मायावादसे बहुत ही ऊपर विराजमान है और
यदि वे अपने मतका पोषण करनेके लिये श्रीमद्भाग-
वतकी व्याख्या तोड़-मरोड़ कर अपने अनुकूल करेंगे
तो श्रीभगवान्की अभिज्ञ सूक्ष्म श्रीमद्भागवतके
कोधका शिकार बनना पड़ेगा । इसी ढरसे उन्होंने

श्रीमद्भागवतसे छेड़-छाड़ करना उचित नहीं
समझा । यद्यपि उन्होंने वेदान्त, उपनिषद्, तथा
पुराण आदि शास्त्रोंके ऊपर अपने मतके अनुकूल—
शास्त्रोंके यथार्थमतके प्रतिकूल अनेक भाष्य रचे हैं—
टीकाएँ लिखी हैं, तथापि श्रीमद्भागवतके विषयमें
तटस्थ हैं । शंकराचार्य साक्षात् शंकरके अवतार
हैं । भगवान्की आज्ञासे ही उन्होंने भगवत्तत्त्वको
गोपन करनेके लिए अद्वैतमतका प्रचार किया है ।
फिर भी उन्होंने अपने काठयोंमें श्रीमद्भागवतके
कतिष्य स्थलोंकी मार्मिक अभिव्यक्ति किया है, जैसे—
ब्रजेश्वरीका विश्वरूप देखकर विस्मित होनेका तथा
ब्रजवनिताओंके बख्ख-हरणका उन्होंने अपने रचित
'गोविन्दाष्टक' में सुन्दर वर्णन किया है । इस तरह
उन्होंने तटस्थ रह कर भी अपने कर्तव्य-पूर्तिकी
कामनाकी सफलताके लिए श्रीमद्भागवतका केवल
स्वर्णमात्र किया है । (क्रमशः)
—त्रिदिवस्वामी श्रीमद्भक्तिमयुक्त भागवत महाराज

नंदलालकी छवि

ठुमुक चलत नंदलाल मारत किलकारियाँ ॥
गिरत, परत, उठत जात, बाजत किंकनियाँ ॥
धाय जसुदा अङ्क लीन्ह, निरखत मुस्कनियाँ ॥
मधुर तोतरे बोल बोलत, नंदजू के साथ ढोलत ।
खंभन ढिग लटपटात, लूटत छवि नंद रनियाँ ॥
नूपुरके मधुर बोल, मंजु केलि करे किलोल ।
सबै मति हरत जात, जकी, ठगी, अनमनियाँ ॥
मन ही मन साँ रिभात, दाऊ देखि सटपटात ।
'शचीदास' बलि जात, माँगे छवि जुठनियाँ ॥

—श्रीसुशीलचन्द्र त्रिपाठी, एम. ए.

जैव-धर्म

[पूँजी-प्रकाशित वर्ष २, संख्या २, पृष्ठ ३३६ से आगे]

चूड़ामणि—‘देखिए, हमारे शास्त्रोंमें जो जन्म डारा जाति-निरुपणकी व्यवस्था है, वही मानो अच्छी प्रतीत होती है। ब्राह्मणके घर जन्म लिया हूँ, संध्या और वंदना आदि करते-करते ज्ञानकी प्राप्ति और अन्तमें मुक्ति भी अवश्य होगी। मैं समझ नहीं पाता — श्रद्धा उत्पन्न कैसे होती है? गीता और भागवतमें अद्वाद्वारा उत्पन्न भक्तिका उपदेश पाया जाता है, किंतु जीव उस अद्वाको कैसे पा सकता है—मुझे स्पष्ट बतलाइए।’

वैष्णवदास—‘अद्वा ही जीवोंका नित्य स्वभाव है। वर्णाधर्मधर्मके अन्तर्गत जो कर्मोंमें निष्ठा देखी जाती है, वह जीवोंके शुद्ध अर्थात् नित्य-स्वभावसे नहीं, वरन् नैमित्तिक स्वभावसे उत्पन्न होती है। छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा है—

‘यदा वै अधधाति अथ मनुते नाभद्वन् मनुते, अहधदेव मनुते, अद्वात्वेव विजिज्ञासितव्येति अद्वा भगवतो विजिज्ञास इति।’ (क)

कोई-कोई सिद्धान्तविद् अद्वा शब्दका अर्थ—वेद और गुरु वाक्योंमें हड़ विश्वासका होना से लगाते हैं। अर्थ बुरा नहीं है, किन्तु पूर्ण स्पष्ट नहीं है। हमारे सम्प्रदायमें अद्वा शब्दका अर्थ इस प्रकार किया गया है—

‘अद्वा त्वन्योपायवज्ज्ञं भक्त्युन्मुखी चित्तवृत्तिं विशेषः।’ (ख) (आस्त्राय सूत्र-५७)

(क) सनक्कुमारने कहा—‘जिस समय मनुष्य अद्वा करता है, तभी वह मनन करता है, विना अद्वा किये कोई मनन नहीं करता। अपितु अद्वा करनेवाला ही मनन करता है। अतः अद्वाकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिए।’ नारदजीने कहा—‘भगवन्! मैं उसी अद्वाकी ही विशेषरूपमें जाननेकी इच्छा करता हूँ।’

(ख) कर्म, ज्ञान और अन्याभिलाष-रहित जीवकी उस विशेष चित्तवृत्तिका नाम अद्वा है, जो केवल भक्तिकी तरफ उन्मुख करती है।

सत्संगमें साधुओंकी वाणियोंको सुनते-सुनते जब साधकके चित्तमें यह भाव पैदा होता है कि कर्म, ज्ञान और योग आदि साधनोंसे जीवका नित्य-कल्याण नहीं हो सकता तथा श्रीहरिके चरणोंमें अनन्यभावसे शरण लिए विना जीवकी कोई गति नहीं, तो समझना चाहिए उस साधकमें अद्वा पैदा हो गयी है। अब अद्वा का स्वरूप बतलाते हैं—

‘सा च शरणापत्तिलक्षणा’

अर्थात्, शरणागति ही अद्वाका वाणा लक्षण है। शरणागति क्या है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वज्जनम् ।

रचिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ।

आत्मनिषेप-कार्यं एवे वदविदा शरणागतिः ॥

(हरिभक्तिविलास ११४१०)

अर्थात्, अनन्य भक्तिके अनुकूल आचरण करूँगा तथा प्रतिकूलका वर्जन करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा; केवल भगवान् ही मेरे रक्षक हैं, ज्ञान, योगाभ्यास, तपस्यादिसे मेरा कुछ भी कल्याण न होगा—ऐसा विश्वास; मेरी अपनी चेष्टाके बावजूद भी मेरा कुछ लाभ नहीं हो सकता, अथवा अपना पोषण आप नहीं कर सकता, मैं भगवान्की यथाशक्ति सेवा करूँगा, वे हमारा पालन-पोषण करते हैं—ऐसी निर्भरता; मैं कौन हूँ? मैं उनका हूँ और उनकी इच्छाको पूर्ण करना ही मेरा कर्तव्य है—ऐसा आत्मनिषेदन; मैं

दीन-हीन और अकिञ्चन हूँ—ऐसा दैन्य;—ये सब भाव मिलकर अन्तःकरणमें प्रवेशकर जिस वृत्तिको प्रकाशित करते हैं उसे अद्वा कहते हैं। ऐसा अद्वालू जीव ही भक्तिका अधिकारी है। यह नित्यमुक्त जीवकी प्राथमिक अवस्था है। अतएव यही जीवोंका नित्य स्वभाव है। इसके अतिरिक्त दूसरे सभी स्वभाव नैमित्तिक हैं।

चुड़ामणि—‘समझ गया। किन्तु आपने अभीतक यह नहीं चतलाया कि अद्वा किसे कहते हैं। यदि सत्कर्मसे अद्वाका उदय होना है, तब तो मेरा पन्ज ही अधिक बलवान ठहरता है। क्योंकि वर्णाधिमके सत्कर्म और स्वधर्मका अच्छी तरह पालन किये विना अद्वा उत्पन्न नहीं हो सकती। जब मुख्लमानोंमें वैसे सत्कर्म नहीं हैं, तब वे भक्तिके अधिकारी कैसे हो सकते हैं?’

वैष्णवदास—‘अद्वा सुकृतिसे उत्पन्न होती है। वृहभारदीय पुराणमें कहा गया है—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसंगेन परिजायते ।

सत्सङ्गः प्राप्यते पुंमिः सुकृतैः पूर्वसङ्गतैः ॥ (क)

सुकृति दो प्रकारकी है—नित्य और अनित्य। जिस सुकृतिसे सत्सङ्ग और भक्ति लाभ हो, वह नित्य सुकृति है। जिस सुकृतिसे भुक्ति और अमेद मुक्ति लाभ हो, वह नैमित्तिक सुकृति है। जिसका फल नित्य होता है, वह नित्य सुकृति है और जिसका फल किसी निमित्त पर आधित रहता है अर्थात् अनित्य होता है वह अनित्य सुकृति है। सब तरहकी मुक्तियाँ स्पष्टरूपसे निमित्ताश्रयी हैं, क्योंकि वे नित्य नहीं हैं। कितने ही लोग मुक्तिको नित्य मानते हैं, किन्तु उनका

(क) भगवद्भक्तोंके सङ्ग-प्रभावसे भक्तिवृत्तिका प्रकाश होता है। जीव पूर्व-पूर्व जन्मोंके संचित सुकृतिके फलसे ही विशुद्ध भक्तोंका सङ्ग पाते हैं।

(ख) कर्म द्वारा प्राप्त किये जानेवाले लोकोंकी परीक्षा करके अर्थात् कर्मके फलको लौकिक और अनित्यमात्र उपलब्धि कर तथा कर्मसे अतीत नित्यवस्तु भगवान् पाधिव (सकाम) कर्मोंसे नहीं मिल सकते—ऐसा मानकर ब्रह्मण्यको कर्मसे सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिए और उस भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान लाभ करनेके लिए हाथमें समिधा लेकर अद्वा और विनय भावके साथ तन, मन और वचनसे वेदज्ञ और भगवत्सेवानिष्ठ ब्रह्मज्ञ सद्गुरु-की शरणमें जाना चाहिए।

ऐसा सिद्धान्त मुक्तिका सच्चा-स्वरूप न जाननेके कारण होता है। आत्मा शुद्ध, नित्य और सनातन है। जड़ या मायाका समर्ग ही जीवात्माके बन्धनका कारण या निमित्त है। उसे पूर्णरूपसे छोड़न करनेका नाम मुक्ति है। ज्ञानभरमें ही इस बन्धनका मोचन होता है। मोचन-कर्म नित्य नहीं है। मोचन होते ही मुक्तिकी बात वहीं समाप्त हो जाती है। निमित्तका नाश ही मुक्ति है। अतएव मुक्ति एक नैमित्तिक भावमात्र है। किन्तु भगवान्के चरणोंके प्रति जीवके हृदयमें जो रति होती है वह कभी स्थगित नहीं होती। इसलिए वह नित्यधर्म है और उसके किसी अंश या अङ्गको शुद्ध-विचारसे नैमित्तिक नहीं कहा जा सकता। जो भक्ति मुक्तिको देकर वहीं समाप्त हो जाती है, वह नैमित्तिक कर्मके अन्तर्गत एक कर्म मात्र है। और जो भक्ति मुक्तिके पहलेसे वर्तमान है, मुक्तिके साथ वर्तमान है तथा मुक्तिके बाद भी वर्तमान रहेगी—वह भक्ति एक पृथक् नित्य-तत्त्व है और वही जीवका नित्य-धर्म है। मुक्ति भक्तिके निकट एक आवान्तर फलमात्र है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

परीक्ष्य लोकान् कर्म-चितान् ब्राह्मणो
निर्बेदमायाज्ञास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विजानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समिधाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ (ख)

‘कर्म, योग, ज्ञानादि सभी नैमित्तिक युक्त हैं। भक्त-संग और भक्ति-क्रियाका संग ही नित्य सुकृत है। जिन्होंने जन्म-जन्मातरोंमें नित्य-सुकृत उपार्जन किया है उन्हींको अद्वा होती है। नैमित्तिक सुकृतके दूसरे-

दूसरे फल होते हैं किन्तु उससे अनन्य भक्तिमें अद्वा उत्पन्न नहीं होती।'

चूडामणि—‘भक्तसंग और भक्ति-क्रिया किसे कहते हैं, स्पष्ट बतलाइये। ये दोनों किन-किन सुकृतियोंसे होते हैं?’

बैष्णवदास—‘शुद्ध भक्तोंके साथ कथोपकथन, उनकी सेवा और उनकी कथाएँ सुनना—इनको ‘भक्तसंग’ कहते हैं। शुद्ध भक्तजोग नगर-संकीर्तनादि भक्ति-क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं। भक्तिके ऐसी क्रियाओंमें सम्मिलित होने अथवा स्थियं कोई भक्ति क्रिया करनेसे ‘भक्ति-क्रिया-संग’ होता है। शास्त्रोंमें इरि मन्दिर-मार्जन, तुलसीके पास प्रदीप-दान, हरि-वासर (एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदि) का पालन—इनको भक्ति-क्रिया कहते हैं। ये भक्ति-क्रियाएँ यदि शुद्ध अद्वा के साथ पालन न भी किये जायें तो भी उनसे भक्ति-पोषक सुकृत होता है। उस सुकृतके बलबान् होने पर साधु-सङ्ग और अनन्य भक्तिमें जन्म-जन्मान्तर तक अद्वा होती रहती है। ‘वस्तु-शक्ति’ नामक एक शक्ति माननी चाहिए। भक्ति क्रियामात्र में भक्ति पोषक शक्ति होती है। अद्वा के साथ यदि क्रिया जाय तो कहना ही क्या है; अवहेलाके साथ करनेसे भी सुकृत होता है। प्रभास-खण्डमें लिखा है—

मधुर-मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां,
सकलं निगमवल्ली-सत्कलं चित्स्वरूपम्।
सहृदयि परिगीतं अद्वया हेलया वा।

भगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम ॥ (क)

इस तरह जितने प्रकारके भक्ति-पोषक सुकृत हैं, वे सभी नित्य-सुकृत हैं। क्रमशः इन सुकृतोंके बलबान् होने पर अनन्य भक्तिमें अद्वा होती है और साधु-संग लाभ होता है। नैमित्तिक दुष्कृतके कारण किसी

मनुष्यका जन्म सुसलमानके घर होता है, परन्तु फिर भी नित्य-सुकृतके कारण अनन्य भक्तिमें उसकी अद्वा होती है। इसमें आश्चर्य क्या है?

चूडामणि—‘मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि भक्ति-पोषक सुकृत नामक कोई वस्तु है तो वह भी किसी अन्य प्रकारके सुकृतसे ही उत्पन्न होती है। अन्य प्रकारका सुकृत सुसलमानोंमें नहीं है—अतएव उनमें भक्ति-पोषक सुकृतका होना भी संभव नहीं।’

बैष्णवदास—‘ऐसा विश्वास करना उचित नहीं। नित्य-सुकृत और नैमित्तिक-सुकृत परस्पर निरपेक्ष हैं। दुष्कृतोंसे भरा हुआ एक दुराचारी व्याध शिवरात्रिके दिन दैवान् उपवास और जागरण करनेसे हरिभक्ति का अधिकारी हुआ था। ‘बैष्णवानां यथा शंभुः’ (श्रीमद्भागवत) इस वाक्यसे महादेव परमपूज्य बैष्णव हैं। उनके ब्रतका पालन करनेसे हरिभक्ति लाभ होती है।’

चूडामणि—‘तो क्या आप कहना चाहते हैं कि नित्य-सुकृत घटनाचक्षसे घटित होता है?’

बैष्णवदास—‘सभी कुछ घटनाचक्षसे हुआ करता है। कर्म-मार्गमें भी ऐसा ही होता है। सर्व-प्रथम जीवने जिसके द्वारा कर्म-चक्रमें प्रवेश किया है, वह आकस्मिक घटनाके अतिरिक्त और क्या है? यथापि मिमांसकोंने कर्मको अनादि घटलाया है, तथापि कर्मका एक मूल है। और वह मूल है—भगवद्-विमुखता। इस तरह नित्य सुकृत भी आकस्मिक घटना ही जान पड़ता है। श्वेताश्वर उपनिषद् का कहना है—

‘समाने वृक्षे पुरुषो निमग्ना छानीशया शोचति सुहामानः।
तुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति वीतशोकः ॥

(श्वेताश्वर ४१०) (ख)

(क) हरिनाम सब प्रकारके मङ्गलोंमें श्रेष्ठ मङ्गल-स्वरूप है, मधुरसे भी सुमधुर है। वह निखिल श्रुति-लताओंका चिन्मय सुप्रक फल है। हे भार्गवश्रेष्ठ, अद्वासे हो अथवा अवहेलासे, मनुष्य यदि स्पष्टरूपसे एकबार भी निरपराध होकर ‘कृष्ण’ नाम उचारण करे, तो वह नाम उसी समय मनुष्यको तार देता है।

(ख) जीव और अन्तर्यामी परमात्मा—ये दोनों तत्त्व एक ही देहरूप वृक्ष पर निवास करते हैं। जिनमें जीव-तत्त्व साया द्वारा मोहित होकर देहामतुद्विके बर दोनेके कारण असमर्थ हुआ शोक करता है। जब सद्गुरुही कृपा

श्रीमद्भागवतमें भी—

“भवापवगों भ्रमतो यदा भवे-
उजनस्य तद्धच्छुत-सत्समागमः ।
सत्संगमो यहि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः ॥ (क)
(श्रीमद्भा० १०।१६।१६३)

सत्ता प्रसङ्गात् मम वीर्यसम्बिदो
भवन्ति हत्-कर्ता-रसायनाः कथा ।
तत्त्वज्ञेष्यादाश्वपवर्गवर्त्मनि
अद्वा रतिर्भक्तिरनुकमित्यति ॥” (ख)
(श्रीमद्भा० ३।२२।२५)

चूडामणि—‘क्या आपके विचारसे हिन्दू और
मुसलमानमें कोई भेद नहीं हैं?’

वैष्णवदास—‘भेद दो प्रकारके होते हैं—पार-
मार्थिक और व्यावहारिक। हिन्दू और मुसलमानमें
पारमार्थिक भेद नहीं है, परन्तु व्यावहारिक भेद है।’

चूडामणि—‘आप बार-बार वागाढ़म्बर क्यों
उपस्थित करते हैं? हिन्दू और मुसलमानका व्यव-
हारिक भेद किस प्रकार होता है?’

वैष्णवदास—‘सांसारिक व्यवहारको व्यवहार
कहते हैं। संसारमें मुसलमान अस्पृश्य हैं, अतएव
व्यावहारिक हृषिसे मुसलमान अस्पृश्य अर्थात्
व्यवहारके योग्य नहीं हैं। मुसलमानका छुआ हुआ
जल हिन्दुओंके व्यवहार योग्य नहीं है। दुर्जातित्वके

से वह अनन्य भक्तों द्वारा सेवित अपनेसे भिन्न परमेश्वरका दर्शन करता है तथा उनकी महिमा अवलोकन करता है,
तब सर्वथा शोक इहित हो जाता है।

(क) अपने स्वरूपमें नित्य स्थित रहने वाले भगवन्! जीव अनादिकालसे जन्ममृत्युरूप संसारके चक्करमें भटक रहा
है। जब उस चक्करसे छूटनेका समय आता है तब उसे सत्संग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस तरण
सत्संग प्राप्त होता है, उसी तरण संतोके आश्रय, चित्-अचितके ईश्वर आपमें जीवकी त्रुटि अत्यन्त हटासे
लग जाती है।

(ख) सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान कराने वाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगानेवाली वीर्य-
वती कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्रही शविद्यानिवृत्तिके पथ-स्वरूप मुझमें अद्वा, रति और प्रेम-
भक्तिका क्रमशः विकास होता है।

(ग) अल्प सुकृतिवान् मनुष्यको भगवान्के उचित्त अल्प सुकृतिवान् महाप्रसाद, श्रीगोविन्द, नाम-ब्रह्म और वैष्णवोंमें अद्वा नहीं होती।

कारण मुसलमानोंका शरीर भी हेय है। अतः हूने
योग्य नहीं है।’

चूडामणि—‘फिर पारमार्थिक हृषिसे ये अभेद
कैसे हो सकते हैं?’

वैष्णवदास—‘शास्त्रोंमें इस बातकी स्पष्ट शब्दोंमें
घोषणा की गयी है। ‘भृगुवर नरमात्र’ तारयेत्
कृष्णनाम—इस वार्णीके अनुसार मुसलमान आदि
सभी मनुष्य परमार्थ-लाभ करनेके विषयमें समान
है। जिनमें नित्य सुकृतका अभाव है, वे दो पैरके
पशु हैं, क्योंकि कृष्णनाममें उनका विश्वास नहीं
होता। सुतरां मनुष्य जन्म पाकर भी उनमें मनुष्यत्व
का अभाव होता है। महाभारतमें कहा गया है—

‘महाप्रसादे गोविन्दे नाम-ब्रह्मणि वैष्णवे ।

स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते ॥’ (ग)

नित्य-सुकृत, जीवको पवित्र करनेवाला महान्
पुण्य है। नैमित्तिक सुकृत ज्ञान पुण्य है, इसके द्वारा
चिन्मय विषयमें अद्वा उत्पन्न नहीं होती। महाप्रसाद,
कृष्ण, कृष्णनाम और वैष्णव—ये चारों इस जगत्
में चिन्मय और चिन्त-प्रकाशक हैं।’

चूडामणिने मुस्कुराते हुए कहा—‘फिर वही
अजीव वातें! दाल, भात अथवा सब्जी भला
चिन्मय कैसे हो सकती है? वैष्णव लोग सब कुछ
कर सकते हैं।’

वैष्णवदास—‘आप चाहें जो कुछ करें, किन्तु

बैष्णवोंकी निंदा न करें—मेरी वह प्रार्थना है। क्योंकि विचार-स्थलमें विषयके ऊपर विचार होना चाहिए, बैष्णव निन्दाकी आवश्यकता ही क्या है? महाप्रसादके अतिरिक्त संसारमें प्रहण करने योग्य और कोई वस्तु है ही नहीं। क्योंकि वह चित्रका उद्दीपक और जड़ताको दूर करनेवाला है। इशोपनिषद् कहते हैं—

ईशावास्थमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्या जगत् ।

तेन त्वक्ने भुजिथा मा गृथः कस्यस्तिवद्नम् ॥ (क)

(ईशोपनिषद्)

अखिल ब्रह्माण्ड भगवन् शक्तिसे सम्बन्धयुक्त है। समस्त वस्तुओंमें चित् शक्तिका सम्बन्ध दर्शन करनेसे बहिर्मुख भोग नहीं होता। अन्तर्मुख जीव-को जगतमें अपने शरीर-यात्राके निर्वाहके लिए जो कुछ प्रहण करनेकी आवश्यकता है, उन सबको भगवन् प्रसाद समझकर यदि वह प्रहण करे, तो उसका अधिष्ठन नहीं होता, बरन् उसकी चिदुन्मुखी प्रवृत्ति विकसित होने लगती है। इसीका नाम महाप्रसाद है। बड़े दुःखकी बात है कि ऐसे अपूर्व वस्तुमें भी आपका विश्वास नहीं है।'

चूडामणि—'अच्छा, उस विषयको छोड़िये। अब मूल विषयपर आइये। मुसलमानोंके साथ आप लोगोंका व्यवहार कैसा होना चाहिए है?'

बैष्णवदास—'मनुष्य जब तक मुसलमान रहे, तब तक उसकी ओरसे हमलोग उदासीन रहते हैं। कोई पहले मुसलमान था, परन्तु अब नियमुक्तिके

(क) अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड़-चेतन है, समस्त ईश्वरमें अवस्थित है तथा साथ ही उससे व्याप्त है, अतएव स्यागपूर्वक (इसे) भोगते रहो, किसीके धनमें आसक न होओ।

(ख) भगवद्भक्त चारों वर्णमें यवस्ये अधम शूद्र वर्णका ही अथवा वर्णसे वहिर्भूत व्याप्त या चण्डाल किसी भी कुलका क्यों न हो, जो लोग उसको उस कुलमें उत्पन्न होनेके कारण उसी जातिका व्यक्ति मानता है, वह निश्चय ही नरकमें गमन करता है।

(ग) भक्तिहीन चतुर्वेदी ब्राह्मण मुक्तको प्रिय नहीं, परन्तु मेरा भक्त—चण्डाल कुलमें जन्म ग्रहण करने पर भी मुझे बड़ा प्रिय है। वही दानका सत्पाद है तथा उसीकी कृपा ग्रहण करनेके योग्य है। वह निश्चय ही मेरे समान पूज्य है।

बलसे बैष्णव हो गया है, तब हम उसे मुसलमान नहीं मानते। इस विषयमें शाखका सुस्पष्ट विचार है—

शुद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं शवपञ्चं तथा ।

ब्रीचपते जाति-सामाज्यात् स याति नरकं भ्रुवम् ॥ (ख)

—(पद्मपुराण)

न मे प्रियरचनुवेदी मद्भक्तः शवपञ्चः प्रियः ।

तस्मै देयं ततो ग्राम्यं स च पूज्यो यथा द्वामम् ॥ (ग)

(ह, भ, चि, धृत इतिहास समृच्छ्य वाक्य)

चूडामणि—'समझा। गृहस्थ बैष्णव किसी मुसलमान बैष्णवके साथ बैवाहिक सम्बन्ध रख सकता है बा नहीं?'

बैष्णवदास—'व्यावहारिक विषयमें मुसलमान जगत्के लिए मरने तक मुसलमान ही रहता है, किन्तु पारमार्थिक विषयमें भक्ति प्राप्त करनेके बाद वह मुसलमान नहीं रह जाता। स्मार्त-कर्म दस प्रकार के हैं। उनमें विवाह भी एक है। अतएव गृहस्थ बैष्णव यदि हिन्दू हो अर्थात् चारों वर्णोंके अन्तर्गत हो, तो उसको अपने वर्णमें ही बैवाहिक सम्बन्ध करना चाहिये। क्योंकि संसार-यात्राके निर्वाहके लिए वर्ण-धर्म नैमित्तिक होने पर भी उनके लिए वही अच्छा है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वर्ण-व्यवहार छोड़नेसे ही बैष्णव हुआ जाता है। भक्तोंका भक्तिके अनुकूल कार्योंको करना कर्त्तव्य है। वर्ण-धर्ममें वैराग्य होने पर उसका त्याग किया जा सकता है। उस समय वर्ण-धर्मके साथ सबका परिस्ताग हो सकता है।' (क्रमशः)

प्रचार-प्रसंग

श्रीश्रीरथयात्रा और विरह-उत्सव

(क) श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ, चूँचुड़ामें—

गत २४ आषाढ़, न जुलाई, रविवार शामको गौड़ीय-कुलतिलक छेंविष्णुपाद श्रील सचिच्छानन्द भक्तिविनोद ठाकुरके तिरोभाव-तिथिके उपलक्ष्यमें, छेंविष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव महाराजके पौरोहित्यमें एक विराट सभाका आयोजन किया गया था। त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, श्रीयुत राखाल बाबू और परानन्द प्रभु आदि वकाओंने श्रील ठाकुरके अल्लीकिक चरित्र और शिलालोके सम्बन्धमें भाषण दिये। श्रीश्री आचार्यदेवने विविध प्रकारके अमूल्य उपदेशोंसे पूर्ण अपने दीक्षांत भाषणमें उनकी अतिमत्यं जीवनी और शिला पर महत्वपूर्ण प्रकाश ढाला। इसी दिन प्रातःकाल नगर-संकोरण और गुणिडचा-मन्दिर मार्जन हुआ। दूसरे दिन २५ आषाढ़को रथ-यात्रा, २६ आषाढ़को हेरापञ्चमी और १ आवण्यको पूर्ण यात्राके उत्सव वडे समारोहसे मनाए गए। २४ आषाढ़से ३० आषाढ़ तक प्रतिदिन पाठ, कीर्तन और ब्राह्मचित्र द्वारा भाषण हुए तथा १ आवण्यको सर्व-साधारण को महाप्रसाद वितरण किया गया।

(ख) श्रीकेशवजी गौड़ीयमठ, मथुरामें—

गत २४ आषाढ़, रविवारको श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का विरह-महोत्सव त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिकुशल नारसिंह महाराजके आनुगत्यमें खूब समारोहसे मनाया गया है। त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्ति भूदेव श्रौती महाराज तथा 'बैक दू गौड हेड' सम्पादक श्रीपाद अभय चरण भक्ति वेदान्तजी ने उत्सवमें योगदान कर उसे साकार्य मणित दिया। शामको एक सभाका आयोजन किया गया जिसमें श्रीभागवत पत्रिकाकेसम्पादक, त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराजने श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके जीवन-चरित्र और उनकी विविध शिलाओंपर गहरा प्रकाश ढाला। तथा श्रीपाद अभय चरण भक्तिवेदान्तजीने श्रौतव्यचरितामृतसे गुणिडचा-मार्जनका प्रसंग पाठ किया। २५ आषाढ़से ३० आषाढ़ तक पूज्यपाद श्रौती महाराज और भक्ति-वेदान्तजी अपने मधुर और पाणिडव्यपूर्ण प्रवचनोंसे श्रोताओंको मुख्य करते रहे।

श्रीसनातन गोस्वामीका विरह उत्सव

गत ६ आवण्य, रविवार पूर्णिमा तिथिको ब्रज-मरडलमें सर्वत्र श्रीसनातन गोस्वामीका विरह महोत्सव खूब धूम-धामके साथ मनाया गया है। श्रीकेशवजी गौड़ीयमठमें भी उस दिन उनका विरह-उत्सव पालन किया गया तथा उनके जीवन चरित्रके विविध-पहलुओंकी विशद् आलोचनाकी गयी।

श्रीश्रीद्वारकाधामकी परिक्रमा

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एक विशुद्ध धार्मिक संस्था है। इसका उद्देश्य है—विश्वमें विशुद्ध भक्तिका प्रचार, सत्संग द्वारा धार्मिक-जीवनको प्रोत्साहन-दान, तथा विविच्छृण्यमें सर्व-साधारणके अन्तःकरणमें धर्म-भाव जागरित करना। इसी हृषिकोणको सामने रखकर इस संस्थाकी ओरसे इस वर्ष द्वारकाधामकी परिक्रमाका आयोजन किया गया है। रास्तेमें =४ कोस ब्रज-मरडलकी भी परिक्रमा की जायगी। आगामी ३१ आश्विन, १७ अक्टूबर, बुधवारको परिक्रमाके लिए यात्राका दिन स्थिर किया गया है। सरक्षित (रिजर्व) ट्रेन द्वारा रास्तेमें मन्दार पर्वत (मधुसूदन), अयोध्या, नैमिपारण्य, मथुरा, वृन्दावन, जगपुर, पुष्कर, सावित्री आदि तीर्थ-स्थानोंके दर्शन किये जायेंगे। विशेष विवरणके लिए 'सम्पादक, श्रीभागवत-पत्रिका' के निकट यत्र-व्यवहार करें।